तंत्रालोक से यंत्रालोक तक

डॉ० नगेन्द्र

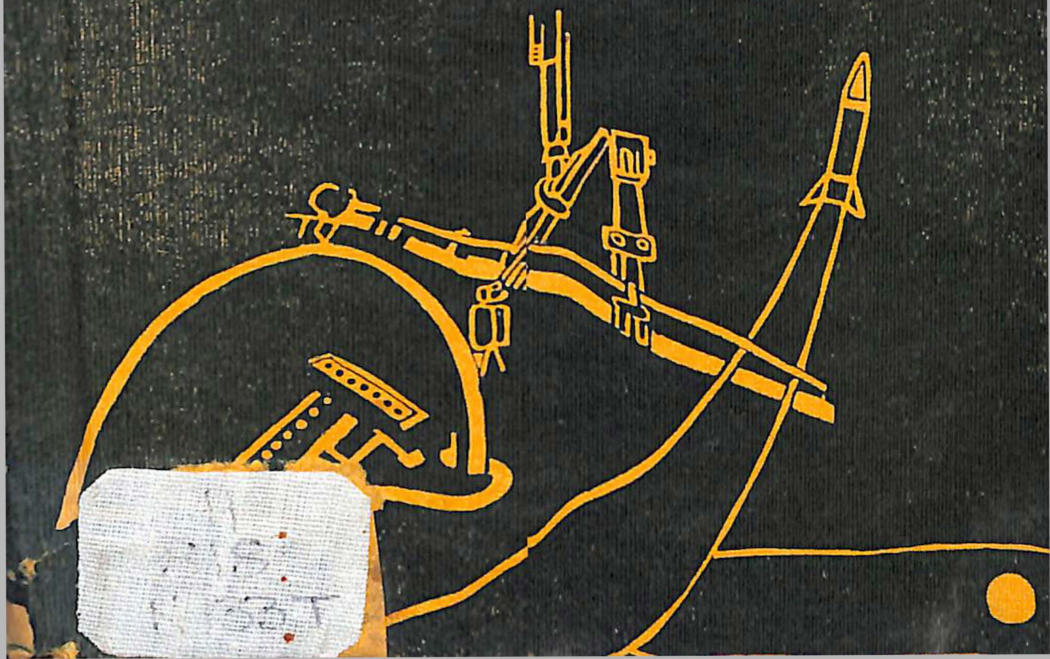

सोवियत-संघ-मंत्रिमण्डल के उपाध्यक्ष के साथ बातचीत करते हुए डॉ० नगेन्द्र। पास में भारत के राजदूत श्री केवलसिंह, सोवियत-भारत-मैत्री-संघ के अध्यक्ष श्री इवानेव और सचिव श्रीमती येरशोवा तथा भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल के अन्य सदस्य डॉ० शाह व डॉ० रथ।

डॉ० नगेन्द्र

तंत्रालोक से यंत्रालोक तक

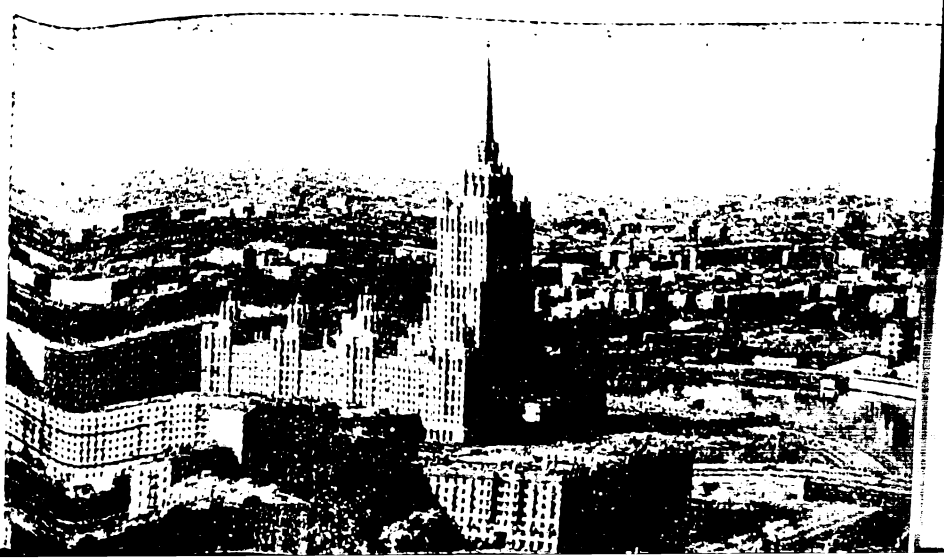

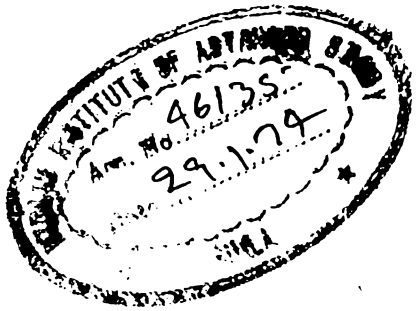

H
818
N133T

मूल्य : तीन रुपये
प्रथम संस्करण : मार्च, १९६८
आवरण : हरिपाल त्यागी

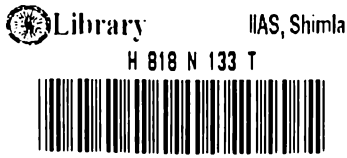

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
२/३५, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली–६
मुद्रक : दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–४

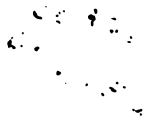

अग्रजकल्प पंडित जी

[आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी] को—

—जिन्हें मुझ जैसे स्थावर व्यक्ति से भी यह शिकायत है कि मैं आवश्यकता से अधिक भ्रमण करता हूँ।

—नगेन्द्र

निवेदन

प्रस्तुत कृति में मेरी विदेश-यात्रा के चार संस्मरण संकलित हैं। यात्रा-लेख और यात्रा-संस्मरण में एक स्पष्ट अंतर यह है कि पहले का यथार्थ जहाँ प्रायः वस्तुनिष्ठ रहता है वहाँ दूसरे का यथार्थ अनायास ही कल्पनारंजित हो जाता है। इसी दृष्टि से मैंने इन निबंधों को यात्रा-लेख न कहकर यात्रा-संस्मरण कहा है। इनमें लेखक की दृष्टि प्रयत्न करने पर भी वस्तुनिष्ठ नहीं बन पायी। जो काठमांडू और मास्को में भी दिल्ली को नहीं भूल पाया, वह यथार्थ का दर्शन और वर्णन आत्म-निर्लिप्त होकर कर सकेगा—यह आशा करना व्यर्थ है। इसे आप द्रष्टा का दोष मानें या गुण, पर तथ्य तो यही है।

दिल्ली विश्वविद्यालय
१-१-१९६८

—नगेन्द्र

क्रम

दिल्ली से काठमांडू : १
दिल्ली से काबुल : १७
काबुल से ताशकंद : ३३
ताशकंद से मास्को : ५३

मुझे दिसम्बर, १९५७ में भारत सरकार की ओर से पहली बार रूस और पूर्व-यूरोप की यात्रा का आमन्त्रण मिला था। प्रवास की अवधि ६-७ सप्ताह की थी। आमन्त्रण पाकर तो मुझे प्रसन्नता हुई, पर इतने दिन घर से बाहर रहने के विचार-मात्र से मेरा मन एक विचित्र प्रकार के अवसाद से भर गया और ज्यों-ज्यों मैं यह सोचने लगा कि सरकार के आमन्त्रण को अस्वीकृत करना सर्वथा अनुचित होगा, त्यों-त्यों अवसाद और भी गहरा होने लगा। लेकिन तुरन्त ही जब मुझे ध्यान आया कि जनवरी में सुषमा (मेरी बड़ी लड़की) का विवाह है—अतः मेरे न जाने का औचित्य सहज ही सिद्ध हो सकता है, तो मुझे बड़ी राहत मिली। दूसरे दिन, मैं प्रो० हुमायुन् कबिर—हिन्दी-वर्तनी के अनुसार प्रो० हुमायूँ कबीर—के पास गया क्योंकि वे ही उन दिनों सांस्कृतिक विभाग के मन्त्री थे और उनसे निवेदन किया कि इस बार तो मैं उनके अनुग्रह का लाभ न उठा सकूँगा, परन्तु आगे यदि कभी मुझे किसी निकटवर्ती देश—नेपाल या श्रीलंका की एकाध सप्ताह की यात्रा का अवसर मिले तो वह मुझे अधिक अनुकूल रहेगी। कबीर साहब हँसकर बोले कि आपको रूस और यूरोप की अपेक्षा नेपाल या लंका अधिक पसन्द है! मैंने अपने मन की कमज़ोरी छिपाते हुए कहा कि मेरी कुछ पारिवारिक समस्याएँ लम्बी यात्रा में बाधक हैं। बात आयी-गयी हो गयी; बाद में कबीर साहब दूसरे विभाग में चले गये। अगले वर्ष विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ० राव ने रॉकफ़ेलर संस्थान की सहायता से मुझे अमरीका भेजने का प्रस्ताव किया। संस्थान के

प्रतिनिधि अधिकारी ने इस विषय में मुझसे वार्त्ता की और चाहा कि मैं दूर-पूर्व के देशों में होता हुआ अमरीका जाऊँ और वहाँ लगभग एक वर्ष रहने के बाद यूरोप होकर भारत लौटूँ। प्रस्तावित कार्यक्रम का उद्देश्य यह था कि मैं अमरीका और विश्व के अन्य देशों में अमरीकी सहायता से स्थापित संस्थानों में हिन्दी-शिक्षण की व्यवस्था का निरीक्षण तथा संयोजन करूँ। प्रस्ताव निश्चय ही आकर्षक था, परन्तु साल-भर से अधिक विदेश में रहने की कोई भी योजना मुझे ग्राह्य नहीं हो सकती थी। अतः दूसरी बार भी विदेश-यात्रा का योग टल गया। सन् १९६६ में त्रिभुवन विश्वविद्यालय के कुलपति दिल्ली आये और हमारे विभाग की कार्यविधि आदि की जानकारी लेने के लिए मेरे घर भी पधारे। चलते समय वे मुझे अपने यहाँ आने का सानुरोध निमन्त्रण दे गये और ८ मार्च, १९६७ को त्रिभुवन विश्वविद्यालय की एक निर्वाचन-समिति की बैठक में भाग लेने के लिए मैं काठमांडू के लिए पालम हवाई-अड्डे से रवाना हुआ।

दिल्ली से नेपाल की यात्रा सिर्फ़ इतनी लम्बी है जितनी कि पटना की—यानी मुश्किल से तीन घण्टे की और वह भी फ़ॉकर फ्रेंडशिप विमान से; फिर भी विदेश तो विदेश ही है। अतः मेरे परिवार और अन्तरंग वृत्त में थोड़ी-सी हलचल पैदा हो गयी और हल्की-सी उत्तेजना मेरे मन में भी थी। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, मैसूर, त्रिवेन्द्रम, कश्मीर आदि की यात्रा मेरे लिए एक सामान्य घटना बन चुकी है, हवाई-यात्रा का भी कोई आकर्षण नहीं रह गया क्योंकि अधिक व्यस्तता के कारण अब मैं प्रायः विमान से ही यात्रा करता हूँ। पर नेपाल के साथ विदेश की धारणा संलग्न होने के कारण यह थोड़ी-सी उत्तेजना अस्वाभाविक नहीं थी। मेरे परिजन नेपाल में अतिशय शीत की कल्पना कर, गर्म कपड़ों की विशेष व्यवस्था करने लगे। और कपड़े तो ठीक ही थे, पर मेरे ओवरकोट के विरुद्ध सभी ने एकमत होकर यह फ़ैसला दिया कि यह विदेश में ले जाने लायक़ नहीं है। कोट पुराना ज़रूर था और मैं

उसे बदलने का विचार भी कर रहा था, पर इतनी जल्दी दूसरे कोट के लिए भाग-दौड़ करने के लिए मैं तैयार नहीं था। तब यह निश्चय किया गया कि मेरा पुराना कोट ले जाकर उसी के नाप का दूसरा कोट ख़रीद लिया जाये। मैंने इस प्रस्ताव का प्रतिवाद करते हुए कहा कि जहाँ मैं जा रहा हूँ, वहाँ के लिए मेरा यह कोट बहुत बुरा नहीं रहेगा और अपने देश में तो अब सर्दी बीत ही चुकी है, इसलिए अगले वर्ष सुविधा से अच्छा-सा ओवरकोट बनवा लिया जायेगा। यद्यपि बहुमत अब भी इसके लिए तैयार नहीं था, परन्तु समय के अभाव के कारण नया ओवरकोट नहीं आ सका। नेपाल-यात्रा के लिए पास-पोर्ट आदि का बन्धन नहीं है और न स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रमाण-पत्र ही आवश्यक होता है : विदेश-मन्त्रालय के किसी उच्च अधिकारी के परिचय-पत्र से काम चल जाता है। भारत-नेपाल के नैकट्य और पारस्परिक सद्भाव-सहयोग के कारण इस प्रकार की सुविधाएँ दोनों देशों के नागरिकों को प्राप्त हैं। लेकिन सीमाशुल्क (कस्टम्स) विभाग उतना ही सतर्क है; उसकी ओर से बाक़ायदा तलाशी ली जाती है और इसके बाद फिर यात्री को बाहर आने-जाने की अनुमति नहीं मिलती। विमान के चलने में कुछ विलम्ब होने के कारण इसमें मेरे लिए कठिनाई हो सकती थी, पर पुलिस के एक अधिकारी के सौजन्य से, जो मेरे पूर्व-छात्र थे, यह बाधा दूर हो गयी और बच्चों को मेरे पास आने-जाने की सुविधा मिल गयी।

अपराह्न में कोई ११-३० बजे के आस-पास फ़ॉकर की उड़ान शुरू हुई और घण्टे-डेढ़ घण्टे में हम लोग गोरखपुर की सीमा पार कर हिमालय की तराई में पहुँच गये। यहाँ से परिदृश्य बदलने लगा। नीचे सघन वृक्ष-राजि से मण्डित विस्तीर्ण कान्तार था : लगता था जैसे श्यामल हरीतिमा का समुद्र हिलोरें ले रहा हो। मैंने घने जंगल का वर्णन तो पढ़ा था, कुछ मामूली जंगल देखे भी थे परन्तु निविड़ कान्तार का ऐसा विस्तार जीवन में पहली बार देखा था। इतने में ही हिमालय की श्रेणियाँ दृष्टिपथ में आने लगीं। नेपाल-यात्रा का मेरा सबसे प्रबल

आकर्षण था हिमालय : नगाधिराज हिमालय—जिसके साथ भारत की असंख्य पुराकथाएँ और उदात्त कल्पनाएँ लिपटी हुई हैं। कालिदास, प्रसाद, पन्त और दिनकर के अनेक काव्य-विम्ब मेरी चेतना में अनायास ही उद्‌बुद्ध होने लगे। कालिदास ने पृथ्वी के मानदण्ड के रूप में उसकी विराट् कल्पना की है। भगवान् शंकर के सम्बन्ध में हिमालय के अनेक आसंग कालिदास की आनन्द-कल्पना के सहज अंग बन गये थे और कवि की भक्ति शत-शत विम्बों के फूल निरन्तर उसके प्रति अर्पित करती रही। प्रसाद ने हिमालय के उस आदि रूप का चित्रण किया है जो प्रलय के उपरान्त सर्वप्रथम आविर्भूत हुआ था। उत्तुंग शिखरों से मण्डित हिमालय का वह दिगन्तव्यापी कलेवर ऐसा लगता था मानो अभी उसकी प्रलय-समाधि भंग नहीं हुई थी—और प्रलय के समुद्र से उन्मग्न पृथ्वी पूरी शक्ति के साथ उसे पकड़े हुए थी जिससे कि कहीं फिर न डूब जाए। पन्त के प्रकृति-काव्य में जिसके अनेक भव्य-चित्र अंकित हैं, वही हिमालय मेरे सामने साक्षात् खड़ा था। शुभ्रशांति में समाधिस्थ, शाश्वत सौन्दर्य के प्रतीक उस पुंजीभूत आनन्द को देखकर कवि पन्त की कल्पना के समान मेरी कल्पना भी महाश्चर्य में डूब गयी और 'कुमारसम्भव' के उदात्त-कोमल प्रसंग चलचित्रों के समान मेरे मन में घूमने लगे। यहीं किसी निभृत गुफा में उमा ने शिव का वरण करने के लिए कठोर तपस्या की होगी—यहीं निकटवर्ती कैलास के शिखर पर त्रिनेत्र की अग्नि-शिखाओं से कामदेव भस्म हुआ होगा। इतने ही में मुझे अपने देश के वर्तमान सीमा-संकट का स्मरण हो आया और दिनकर की ओजस्वी वाणी मेरे कानों में गूंजने लगी :

जिसके द्वारों पर खड़ा क्रान्त
सीमापति ! तूने की पुकार,
'पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार !'

तभी, न जाने कैसे, मुझे अपने नाम-परिवर्तन का प्रसंग याद आ

गया। नागों के उपासक नगाइच वंश में जन्म होने के कारण पितामह ने मेरा नाम नागेन्द्र रखा था। यह नाम दसवीं कक्षा तक यथावत् चलता रहा, पर दसवीं क्लास में एक अध्यापक अपने-आप ही नगेन्द्र कहकर मेरा नाम पुकारने लगे क्योंकि अंगरेज़ी में नागेन्द्र और नगेन्द्र की वर्तनी एक ही है। प्रायः उसी समय साहित्य के प्रति मेरी रुचि जगने लगी थी और शब्द-अर्थ के सौन्दर्य के संस्कार धीरे-धीरे व्यक्त होने लगे थे। मैंने अनुभव किया कि नागेन्द्र की अपेक्षा नगेन्द्र नाम शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से अधिक सुन्दर है और मैंने उसी का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। आत्मचिन्तन के एकान्त क्षणों में मेरी बाल-कल्पना हिमालय के जिस विराट् बिम्ब को अपनी चेतना में प्रायः बाँधने का प्रयत्न करती थी, वही आज अपने अपार ऐश्वर्य के साथ मेरे सामने विद्यमान था और उस विराट्-भाव को आत्मसात् करता हुआ मैं एक अपूर्व आह्लाद का अनुभव कर रहा था। थोड़ी देर में बादल छँट जाने से धूप एक-साथ खिल उठी। मैंने खिड़की से झाँककर देखा तो नीचे पर्वत के विशाल स्कन्ध पर तैरती हुई हमारे विमान की छाया ऐसी लग रही थी जैसे किसी देव-मन्दिर के रजत-शिखर पर छोटा-सा पतंगा मँडरा रहा हो।—और, मैं सोचने लगा कि कल्पना से वंचित होकर यथार्थ कितना क्षुद्र बन जाता है!

अब तक हम नेपाल राज्य में प्रवेश कर चुके थे; सामने की पर्वत-श्रेणी पार करते ही विमान काठमांडू घाटी में उतरने लगा। परिचारिका ने हिन्दी में रटा हुआ वाक्य दोहराया और मैं कुर्सी-पेटी बाँधकर हवाई-अड्डे पर उतरने के लिए तैयार हो गया। काठमांडू का हवाई-अड्डा मध्यम श्रेणी का है: जिस दिन मैं लौट रहा था उसी दिन उसके इतिहास में पहली बार एक बड़ा जैट विमान उतरा था—यानी फ़ॉकर और डकोटा आदि के ही उतरने की व्यवस्था सामान्यतः वहाँ थी। परन्तु जिसकी सीमा पर हिमालय की श्रेणियाँ अर्धवृत्त बनाकर खड़ी हों, उसके परिदृश्य में विराट् तत्त्व का समावेश तो अपने-आप ही हो

जाता है। हिमालय के शिखरों की पृष्ठभूमि में उड़ते हुए विमान अपने सामान्य आकार से भी छोटे दिखाई पड़ते थे। उन्हें देखकर मुझे पुराणों में वर्णित देव-गन्धर्व आदि के विमानों का स्मरण हो आया—वे भी यहाँ इसी तरह उड़ते रहते होंगे। यान से नीचे आते ही कुछ दूर चल कर मेरे आतिथेय मिल गये और सामान लेकर मैं उनके साथ चल दिया। विश्वविद्यालय की ओर से मेरे ठहरने की व्यवस्था एक होटल में की गयी थी किन्तु मेरे मित्र ने वह प्रस्ताव रद्द कर अपने घर ही ले चलने का आग्रह किया। नेपाल को पर्यटकों का स्वर्ग कहा जाता है—प्रकृति और कला का ऐसा अपूर्व वैभव अन्यत्र दुर्लभ है। मैंने अपने मित्र से कहा कि मैं दो दिन के लिए ही आया हूँ तो वे बोले कि दो दिन में तो आप नेपाल के दर्शनीय स्थानों की तालिका भी नहीं बना सकेंगे। मैंने उत्तर दिया कि कुछ चर्म-चक्षुओं से देख लेंगे और शेष को कल्पना की आँखों से !

मित्र के घर पहुँचकर चाय पीते-पीते शाम हो गयी, इसलिए उस दिन सिर्फ़ शहर में ही घूमने का प्रोग्राम बनाया। काठमांडू एक रंगीन पहाड़ी शहर है जिसमें नये और पुराने का अनमेल मिश्रण है। शहर का नया भाग, जहाँ दूतावास आदि हैं, आधुनिक ढंग का बना हुआ है—पाश्चात्य उपयोगी वास्तुकला की इमारतें हैं और पक्की साफ़ सड़कें हैं। पुराने हिस्से में स्थानीय नागरिकों के मकान हैं जिनमें लकड़ी और मिट्टी का प्रयोग अधिक और पत्थर का कम है। सम्पन्न व्यक्तियों के—विशेषकर राणा-परिवार के सदस्यों के भवन सामन्तीय ढंग के हैं : उनके चारों ओर प्राचीर हैं और भीतर पहाड़ी शैली के गढ़ीनुमा मकान हैं जिनमें एक प्रकार के अनगढ़ पौरुष का आभास मिलता है। राज-महल में नयी और पुरानी वास्तु-शैली का मिश्रण है : बाहर की प्राचीर जहाँ पुराने ढंग की है, वहाँ भीतर के भवन नये ढंग के—नये साज-सामान से लैस हैं। सरकारी इमारतें नये ढंग की हैं, पर प्रधान-मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य वहाँ न रहकर अपने खानदानी

मकानों में ही रहते हैं। शहर का पुराना भाग बहुत साफ़ नहीं है—वातावरण वहाँ का उत्तरप्रदेश के उत्तर-पूर्वी शहरों का-सा है। हाँ, बाज़ार में काफ़ी वैचित्र्य और रंगीनी है; दूर-पूर्व एशिया, चीन, भारत और अब अमरीका का माल विदेशी क़ीमत पर वहाँ मिलता है—नेपाल की रंग-बिरंगी चीज़ें बाज़ार के आकर्षण को और भी बढ़ा देती हैं। खाने-पीने की चीज़ें काफ़ी महँगी हैं : शराब सस्ती है क्योंकि उसका प्रचार वहाँ बहुत है। नगर के विशेष स्थानों पर—चौक और चौराहों पर—महाराजाधिराज महेन्द्र व महारानी के चित्र लगे हुए हैं जिनके नीचे संस्कृतनिष्ठ नेपाली भाषा में, देवनागर अक्षरों में, हिन्दू-राजभक्ति-परम्परा के अनुकूल, राजदम्पति की मंगल-प्रशस्तियाँ अंकित हैं। नगर-भर में, मार्गों पर, हाटों में, प्रशासनिक भवनों पर सर्वत्र नेपाली भाषा का ही प्रयोग है—कहीं पर 'अन्तर्राष्ट्रीय भाषा' का आश्रय नहीं लिया गया।

दूसरा दिन हमने काठमांडू के विशेष दर्शनीय स्थानों के निरीक्षण के लिये रखा था। अतः सवेरे दस बजे के लगभग हम लोग घर से चल दिये। समयाभाव के कारण केवल दो-तीन प्रमुख स्थानों का ही कार्य-क्रम बन सका : नगर में स्थित काष्ठमण्डप, स्वयंभूनाथ, और पाटन का कृष्णमन्दिर। काष्ठमण्डप शहर के मध्यभाग में अवस्थित है। इसका रूपाकार पगोडा के समान है और प्रवाद यह है कि सम्पूर्ण मण्डप एक ही महावृक्ष के काष्ठ से निर्मित है। आरम्भ में यह यात्रियों का विश्राम-गृह था, पर धीरे-धीरे इसमें देवभावना का समावेश होता गया और यह एक प्रकार का देवस्थान बन गया। काठमांडू काष्ठ-मण्डप का ही तद्भव रूप है। कला की दृष्टि से कोई विशेष शिल्प-सौन्दर्य इसमें नहीं है, पर सब मिलाकर यह एक विचित्र वस्तु है। वहाँ से हम पाटन का कृष्णमन्दिर देखने गये जो बागमती नदी के पार नगर से कुछ मील दूर पर है। पाटन एक छोटा-सा उपनगर है जिसमें हर जगह छोटे-छोटे मन्दिर या मूर्तिगृह बने हुए हैं। यह कृष्णमन्दिर प्रायः दो हज़ार

वर्ष पुराना है और इसकी विशेषता यह है कि कहीं भी इसमें चूने का प्रयोग नहीं किया गया। वास्तुकला का यह अद्‌भुत चमत्कार है, चूने के विना भी यह इतना मज़बूत वना हुआ है कि भूकम्पों का इस पर अव तक कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मूर्तिकला और वास्तुकला का सर्व-श्रेष्ठ निदर्शन है स्वयंभूनाथ का मन्दिर जो एक पर्वतखण्ड के ऊपर विराट् भूमिका पर स्थित है। इस मन्दिर का प्रमुख आकर्षण है स्वर्ण-पत्र से मण्डित भगवान् बुद्ध की विशाल प्रतिमा। परन्तु स्तूप का स्वरूप भी अपने-आप में कम आकर्षक नहीं है जिसमें चारों ओर दो-दो आँखें लगी हुई हैं। इस स्तूप को देखकर ऐसा लगता है मानों वह एक चिर-सजग प्रहरी की भाँति चतुर्दिक् दृक्‌पात करता हुआ नगर की रक्षा कर रहा हो।

नेपाल शैव-शाक्त और बौद्ध धर्मों का केन्द्र रहा है। इस समय वह विश्व में एकमात्र हिन्दू-राज्य है जो न तो भारत की तरह धर्म-निरपेक्ष है और न पाकिस्तान की तरह धर्म-प्रतिबद्ध। वह इस वात का प्रमाण है कि हिन्दू धर्म को उसके सहज उदार-रूप में स्वीकार कर लेने के वाद धर्मनिरपेक्षता उतनी अनिवार्य नहीं रहती। इसीलिए शताब्दियों से वह एक ओर भगवान् पशुपतिनाथ और दूसरी ओर तथागत बुद्ध के वरदानों का युगपत् उपभोग करता रहा है। अनेक हिन्दू-प्रथाएँ, जो भारत में विलुप्त हो गयी हैं, आज भी वहाँ की व्यावहारिक संस्कृति का अंग हैं। नेपाल और भारत के सम्बन्ध अत्यन्त आत्मीय तथा सौहार्दपूर्ण हैं—संस्कृति और धर्म की समानता चिरकाल से दोनों राष्ट्रों को स्नेह-वन्धन में वाँधे हुए है।

रात्रि में भगवान् पशुपतिनाथ के दर्शन का कार्यक्रम वना। उस दिन शिवरात्रि थी और मार्च की ६ तारीख यानी मेरा जन्मदिवस भी संयोग से उसी दिन था। भक्तों का अपार समुदाय सभी दिशाओं से उमड़ रहा था—मन्दिर के चारों ओर दूर-दूर तक यात्रियों के तम्वू और दूकानें लगी हुई थीं। मेरे आतिथेय मित्र ने, जो वहाँ इंजीनियर

थे, मन्दिर के निकट तक गाड़ी ले जाने का प्रवन्ध कर लिया था जिससे हमें अधिक पैदल न चलना पड़े। मन्दिर के प्रांगण में नंगे पाँव प्रवेश करना था और कीचड़ होने के कारण मोजे पहनने की भी सुविधा नहीं थी। सामान्यतः मेरे लिए जाड़े की रात में यह सब कष्टसाध्य था, परन्तु और कोई गति भी नहीं थी। एक श्रद्धालु मित्र ने कहा : भगवान् पशुपतिनाथ के मन्दिर में क्या डरना ? भीड़ में धक्का-मुक्की करते हुए अंत में हम देव-विग्रह के सामने पहुँच गये और प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार भगवान् को प्रणाम कर क्षण-भर में आगे वढ़ गया, क्योंकि इससे अधिक तो उस जन-प्रवाह में रुकने की सम्भावना ही नहीं थी। पशुपतिनाथ की मूर्ति, जहाँ तक मैं उसे देख पाया, कला की दृष्टि से अधिक सुन्दर नहीं थी, पर मूर्ति तो भक्ति-भावना की प्रतीक होती है—उसके सुन्दर होने न होने का क्या अर्थ ? भारतवर्ष में भी, यद्यपि यहाँ मूर्तिकला का चरम उत्कर्ष मिलता है, यह विचित्र संयोग है कि प्रसिद्ध धर्मों के देव-विग्रह अत्यन्त सामान्य—प्रायः असुन्दर हैं। इतिहास के विशेषज्ञ अनेक प्रकार से इस समस्या का समाधान कर सकते हैं, पर धर्मप्राण जनता के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं है। नेपाल के इस सर्व-प्रमुख देवस्थान के विषय में भी यही सत्य है। शीघ्र ही हम लोग मन्दिर के अलिन्द से बाहर निकलकर उस स्थान पर आ गये जहाँ भगवान् पशुपतिनाथ का विशाल वाहन पशुपति नान्दी खड़ा है। वास्तव में त्रिक दर्शन में जीव का प्रतीक पशु है—वही नान्दी है; शिव की संज्ञा पशुपति है और कंचुक तथा मल ही पाश हैं। परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में विशाल नान्दी की संज्ञा पशुपति है और उसके सम्बन्ध से शिव की संज्ञा पशुपति-नाथ हो गयी है। यहाँ आकर जब हम लोग खड़े हुए तो एक सहयोगी प्राध्यापक वन्धु ने कहा, "आज आप अपना जन्मदिवस भगवान् पशुपति-नाथ की मंगलमयी भूमि में मना रहे हैं। आपके लिए यह वर्ष अत्यन्त शुभ होगा।" अपनी भक्ति-भावना इतनी प्रगाढ़ तो नहीं थी, फिर भी

यह संयोग मुझे प्रीतिकर लगा। आरम्भ में आर्य विद्वानों और साधु-सन्तों के सम्पर्क से मुझे त्रैतवाद की शिक्षा मिली थी। बाद में जब स्वतन्त्र चिन्तन करने की क्षमता आयी तो ऐसा लगा कि त्रैत की धारणा कुछ अधिक तर्क-सम्मत नहीं है। अनेक की एक में अन्विति या परिणति ही बुद्धि-संगत प्रतीत हुई; परन्तु अद्वैत सिद्धान्त का मायावाद किसी प्रकार ग्राह्य नहीं हुआ। इधर 'कामायनी' के सन्दर्भ में जब प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का अध्ययन किया तो शैवाद्वैत-भाव और उससे प्रेरित आनन्द-सिद्धान्त अपनी चिन्तन-पद्धति के अधिक अनुकूल प्रतीत हुए। अतः शिव-तत्त्व के प्रति एक नितान्त असाम्प्रदायिक अथवा मनोवैज्ञानिक आकर्षण मेरे मन में उत्पन्न हो गया है, इसमें सन्देह नहीं। मित्र ने काव्यात्मक भाषा में, उच्छ्वास के साथ, फिर कहा, "शिवरात्रि के इस अपूर्व पर्व पर, भगवान् पशुपतिनाथ की वरद छाया में, नगाधिराज हिमालय की पावन अंचल-भूमि में नगेन्द्र का जन्मदिवस पड़ा है—इसे आप सामान्य योग मानते हैं!" मैं इसका प्रतिवाद न कर सका और मेरी चेतना एक अतर्क्य मंगल-भावना से ओतप्रोत हो गयी।

१० मार्च को निर्वाचन-समिति की बैठक थी और उसी दिन पूर्वाह्न में मुझे नेपाल में भारतीय राजदूत श्री श्रीमन्नारायण से मिलना भी था। वैसे भी अपने देश के राजदूत से मिलना वैदेशिक शिष्टाचार का एक अंग है और फिर बन्धुवर श्रीमन् जी से तो मेरे काफ़ी पुराने स्नेह-सम्बन्ध थे। मध्याह्न का भोजन उनके यहाँ करने के बाद मैं तुरन्त ही विश्वविद्यालय की नयी इमारत की ओर चल दिया। यह इमारत काठमांडू से कई मील दूर कीर्तिपुर नामक उपनगर में बन रही है। तब तक केवल इसका प्रशासनिक खण्ड व दीक्षान्त-भवन बन चुके थे और विज्ञान-विभाग की इमारतें बन रही थीं। विश्वविद्यालय के प्रवेश-द्वार पर नागर अक्षरों में त्रिभुवन विश्वविद्यालय लिखा हुआ है और दीर्घा के भीतर सामने की दीवार पर नेपाली भाषा में उसकी स्थापना का संक्षिप्त इतिवृत्त दिया हुआ है। विश्वविद्यालय का परिदृश्य अत्यन्त

भव्य है। वह विशाल भूमिखण्ड, जिस पर विश्वविद्यालय स्थित है, पर्वतमाला से घिरा हुआ अर्धचन्द्राकार है। निर्माण-कार्य पूरा होने पर त्रिभुवन विश्वविद्यालय का परिवेश प्राकृतिक और मानवीय कला के संयोग से एक अपूर्व गरिमा से मण्डित हो जाएगा। विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १९६० में हुई थी; इसके अन्तर्गत कला, सामाजिक विज्ञान और भौतिक विज्ञान के प्रायः सभी प्रमुख विभाग और देश के विभिन्न भागों में स्थापित ३५-३६ स्नातक-विद्यालय हैं। विभिन्न विषयों के लिए नेपाल के सुयोग्य नागरिकों के अतिरिक्त, भारत और अमरीका आदि के विशेषज्ञ विद्वानों की नियुक्ति की जाती है। भारत-सहयोग संस्थान की ओर से २०–२५ भारतीय प्राध्यापक वहाँ भिन्न-भिन्न विभागों में कार्य कर रहे हैं। हिन्दी-विभाग में एक आचार्य (प्रोफ़ेसर), एक उपाचार्य (रीडर) तथा कई प्राध्यापक हैं। नेपाली के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण हिन्दी और संस्कृत में वहाँ के छात्रों की विशेष रुचि है। कुलपति महोदय के अनुरोध पर मैंने पाठ्यक्रम और शोध-व्यवस्था आदि के विषय में हिन्दी-विभाग के सहयोगी-बन्धुओं से विचार-विनिमय किया और तुलनात्मक अनुसन्धान पर विशेष बल देने का परामर्श दिया। नेपाल के प्राचीन ग्रन्थागारों में अपार सामग्री भरी पड़ी है; वह प्रायः संस्कृत और पालि भाषा में है—पर मैथिली-हिन्दी के ग्रन्थों का भी संग्रह काफ़ी है। उनका सम्पादन और प्रकाशन निश्चय ही उपयोगी होगा। निर्वाचन-समिति की कार्यवाही में लगभग दो घण्टे लगे। छह-सात अभ्यर्थियों में से कुछ भारत के थे और कुछ नेपाल के। निर्वाचन-समिति में कुलपति के अतिरिक्त नेपाल लोकसेवा-आयोग के अध्यक्ष और शिक्षा-सचिव भी थे। सरकारी सदस्यों का मत था कि विश्वविद्यालय में क्रमशः नेपाल के नागरिकों की संख्या बढ़ती जानी चाहिए, परन्तु कुलपति योग्यता पर ही बल दे रहे थे। मैंने सुझाव दिया कि अभी यह क्रम प्राध्यापक (लेक्चरर) स्तर पर चलना चाहिए: उच्चतर स्तर पर निर्वाचन योग्यता के आधार पर ही होना चाहिए,

अन्यथा शिक्षा के उचित विकास में वाधा पड़ेगी। मेरे विचार का सवने समर्थन किया। इसके वाद विश्वविद्यालय की पुरानी इमारत में मेरे भाषण का कार्यक्रम था; अतः हम लोग सीधे नगर की ओर चल दिये। वहाँ आकर मैंने देखा कि जिस कमरे में मेरे भाषण का आयोजन था वह श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ है। इससे मुझे प्रसन्नता हुई, पर अन्दर जाने पर मैंने देखा कि उनमें कुछ साधु थे और अनेक श्रद्धालु—शायद साहित्य की अपेक्षा भक्ति-रस के ही रसिक अधिक थे। इस पर मैं कुछ असमंजस में पड़ गया क्योंकि मेरे भाषण का विषय तो एकान्त साहित्यिक था : 'काव्य-विम्व और काव्य-मूल्य' तभी एक स्थानीय मित्र से ज्ञात हुआ कि मेरे भाषण के वाद वहाँ किसी वाल-साध्वी का प्रवचन होने वाला है और काफ़ी श्रोता उसी के लिए आये हुए हैं। मैंने चाहा कि मेरा भाषण किसी छोटे कमरे में हो जाए, पर कुलपति महोदय ने भक्तिभाव में विभोर होकर कहा कि आप भी क्यों न भक्ति से ही सम्वद्ध किसी विषय पर प्रवचन करते। यों तो थोड़ा-वहुत मैं भक्ति के विषय में वोल ही सकता था—कम-से-कम भक्तिरस का विवेचन तो अधिकारपूर्वक कर ही सकता था, परन्तु अर्द्धसमाधि में मग्न उन भक्तों की मुद्रा देखकर मुझे साहस नहीं हुआ। अन्त में, पूर्व-निश्चित विषय पर मैंने व्याख्यान दिया। वुद्धिजीवियों के लिए तो उसमें थोड़ी-वहुत सामग्री थी ही, परन्तु अपर वर्ग भी वड़े ध्यानपूर्वक उसे सुनता रहा—हो सकता है विम्व-कल्पना में उन्हें साकारवाद का आभास हुआ हो या केवल शब्द-ब्रह्म का सम्पर्क ही भक्तों के लिए पर्याप्त रहा हो। भाषण के वाद कुछ देर शंका-समाधान का क्रम चला और उसके समाप्त होते-होते साध्वीवाला अपने परिकर के साथ आ गयीं। कुलपति महोदय के आग्रह पर मैं भी उनका प्रवचन सुनने के लिए रुक गया। ब्रह्मचारिणी का व्यक्तित्व स्वस्थ और प्रसन्न था—एक विशेष प्रकार का आत्मविश्वास उस कन्या में था : कन्या होने पर भी मातेश्वरी सम्बोधन उन्हें प्रिय था। प्रवचन तो प्रायः वैसा ही था जैसा साधु-सन्तों का होता है, परन्तु

उनकी वाणी में ओज था और धर्मग्रन्थों के अनेक श्लोक उन्हें कण्ठस्थ थे जिनका उपयोग वे मनमाने ढंग से करती थीं। थोड़ी देर बाद मैंने कुलपति महोदय से अनुमति चाही, परन्तु तब तक वे समाधिस्थ हो चुके थे और मैं, उन्हें उसी अवस्था में छोड़, मित्र के साथ अपने आवास पर चला आया।

अगले दिन ११ मार्च, १९६७ को मध्याह्न में मुझे नेपाल-विमान-सेवा के हवाई जहाज़ से दिल्ली लौटना था। अतः १०-३० बजे के आस-पास हम लोग हवाई-अड्डे के लिए चल दिये। उस दिन यूरोप से कोई विशेष अतिथि काठमांडू आ रहे थे, अतः हवाई-अड्डे के मार्ग जल्दी ही बन्द हो गये थे। परन्तु मित्र के प्रभाव से हमें किसी-न-किसी प्रकार रास्ता मिल गया और हम समय पर, मुख्य मार्ग से कुछ बचकर, हवाई-अड्डे पर आ गये। वहाँ मालूम हुआ कि हमारा विमान दो-तीन घण्टे लेट है। इतना समय काटने में थोड़ी असुविधा हुई—ख़ासकर मेरे मित्रों को—जो मेरे बार-बार आग्रह करने पर भी वहाँ से नहीं गये। आख़िर हवाई जहाज़ पहुँच ही गया और नियत समय पर मैंने अपने आतिथेय बन्धुओं से विदा ली जिनके कारण उस अपरिचित प्रदेश में मुझे सब प्रकार की सुख-सुविधा रही थी। यह विमान भी फ़ॉकर फ्रैंडशिप था—अन्तर केवल इतना ही था कि भीतर की साज-सज्जा व खान-पान में थोड़ा-सा नेपाली स्पर्श था और सूचनाएँ मुख्यतः नेपाली भाषा में दी जाती थीं : बाद में विदेशी यात्रियों और अंगरेज़ी-दाँ भारतीयों के लिए अंगरेज़ी में उनकी आवृत्ति कर दी जाती थी। आते समय अन्तरिक्ष में कुहरा छाया हुआ था, इसलिए पर्वतमालाएँ साफ़ दिखायी नहीं देती थीं। पर उस दृश्य का भी अपना आकर्षण था : कुहरे के झीने आवरण में हिम-धवल शिखरों की शोभा कुछ और ही थी! तीन घण्टे में विमान दिल्ली के ऊपर आ गया और दस मिनट के भीतर पालम पर उतर गया। वहाँ मुझे लेने के लिए बच्चे व परिवार के व्यक्ति पहले से खड़े हुए थे। जाते समय बच्चों को मैं समझा गया था कि नेपाल से कोई

चीज़ लाना सम्भव नहीं है। अतः नई दिल्ली में जनपथ के बाज़ार से उनकी फ़रमाइश पूरी करनी पड़ी।

यद्यपि यह मेरी पहली विदेश-यात्रा थी और वैधानिक दृष्टि से ऐसा न मानने का कोई कारण नहीं था—जाते समय इस प्रकार का थोड़ा-बहुत भाव हमारे मन में था ही, पर लौटने के बाद मुझे या मेरे परिजनों को यह नहीं लग रहा था कि मैं परदेश से आया हूँ—और इसके लिए उत्तरदायी था नेपाल का भौगोलिक एवं सांस्कृतिक नैकट्य।

दिल्ली से काबुल

विदेश-यात्रा वर्तमान जीवन का विशेष आकर्षण और आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व का आवश्यक अलंकार है। इसीलिए समयसिद्ध ज्योतिषी आपका जन्म-पत्र देखकर भविष्य में पदवृद्धि, अर्थलाभ आदि के साथ-साथ विदेश-यात्रा का भी उल्लेख करना नहीं भूलता। ऐसे ही एक ज्योतिषी ने, जिसे पन्त जी का प्रमाणपत्र प्राप्त था, कुछ समय पहले मेरे विषय में भी इसी प्रकार की भविष्यवाणी की थी : आप जल्दी ही किसी और ऊँचे पद पर, संभवतः किसी विश्वविद्यालय के कुलपति होकर, जाने वाले हैं—और विदेश-यात्रा का भी निश्चित सुयोग है। अपने आर्यसमाजी संस्कार यों भी इस प्रकार की भविष्यवाणी पर विश्वास नहीं करते और फिर उपर्युक्त दोनों संभावनाओं में मेरे लिए विशेष आकर्षण भी नहीं था। अतः जब मैंने ज्योतिषी जी के वक्तव्य पर ख़ास ध्यान नहीं दिया तो उन्हें कुछ आश्चर्य-सा हुआ। उनके मन की बात को ताड़कर मैंने स्थिर भाव से उत्तर दिया : 'पंडित जी, आपके शास्त्र में यदि विधान हो तो ऐसा हिसाब लगा दीजिए कि ये दोनों ही ख़तरे टल जाएँ।' मेरी इस प्रतिक्रिया पर वे मौन हो गये और कुछ देर बैठने के बाद चले गये—उन्हें लगा कि या तो मेरा ज्योतिष में विश्वास नहीं है या मैं बन रहा हूँ। पर बात वैसी नहीं थी : मैं पूरी ईमानदारी के साथ यह अनुभव करता हूँ कि शिक्षा के क्षेत्र में दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर-पद से ऊँचा कोई पद नहीं है और लंबे अर्से की विदेश-यात्रा भी हिन्दी-साहित्य के अध्यापक के लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। इसीलिए मैं इस प्रकार के प्रस्तावों को अस्वीकार करता रहा हूँ।

इस बार बंधुवर श्री शिवदानसिंह चौहान की प्रेरणा से सोवियत-संघ की सांस्कृतिक यात्रा की ऐसी योजना बन गई जो मेरे स्वभाव और कार्यक्रम के अनुकूल थी। भारतीय स्वतन्त्रता की बीसवीं वर्षगाँठ के उत्सव में भाग लेने के लिए एक प्रतिनिधिमंडल रूस जाने वाला था जिसमें तीन सदस्य थे : बम्बई के प्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री डॉ० मंगलदास जी० शाह, उड़ीसा के प्रतिष्ठित शिक्षाविद् एवं मनोवैज्ञानिक डॉ० रथ और तीसरा मैं। कार्यक्रम दो सप्ताह का था, परन्तु मैंने आग्रहपूर्वक अपने लिए एक सप्ताह कम करा लिया था। अन्य व्यक्ति जहाँ एक सप्ताह और बढ़ाने के लिए प्रयत्न करता, वहाँ मैं एक सप्ताह पहले आने के लिए आग्रहशील था—इससे सम्बद्ध अधिकारियों को कठिनाई कम और हैरानी ज़्यादा हो रही थी। आखिर कार्यक्रम निश्चित हो गया। ११ अगस्त को प्रतिनिधिमंडल के तीनों सदस्य एकत्र हुए : १२ अगस्त की सुबह सवा नौ बजे एयर इंडिया के वाइकाउन्ट विमान से काबुल जाने का प्रोग्राम था।

काबुल की यात्रा औपचारिक कार्यक्रम का अंग न थी, अतः वहाँ भोजन और आवास आदि की समस्या का समाधान करना आवश्यक था। कुल मिलाकर प्रत्येक यात्री को केवल ६५ रु० के मूल्य की विदेशी मुद्रा ले जाने की अनुमति मिलती है जिससे विदेश के किसी भी शहर में एक दिन काटना मुश्किल होता है। परन्तु कुछ स्थानीय मित्रों की सहायता से यह मसला हल हो गया और काबुल-स्थित यूनेस्को कार्यालय के प्रशासक-सचिव श्री कृष्णलाल तलवार ने आतिथ्य का पूरा दायित्व अपने ऊपर लेकर हम सबको निश्चित कर दिया। मेरे वस्त्रादि की तैयारी का भार बच्चों ने ले लिया था और विदेश से लौटे हुए कुछ सहयोगियों से यह पता लगाकर कि इन दिनों काबुल, ताशकंद और मास्को में यों तो नवंबर का-सा मौसम है, फिर भी रातें ठंडी हो जाती हैं, उन्होंने मेरी प्रकृति के अनुकूल जाड़े का अच्छा साज-सामान रख दिया था। मैं तो पहले ही सावधान था, पर एक दिन पहले मेरे

मित्र डॉ० सरूपसिंह यह और कह गये कि मौसम आदि के बारे में विदेशियों की राय काफ़ी नहीं है—जाड़े का पूरा इंतज़ाम करके जाना चाहिए : नीचे ऊनी पायजामा और मोज़ों के नीचे मोज़े पहनना ज़रूरी हो जाता है। जाड़े से अपनी ख़ास दोस्ती नहीं है, इसलिए सच्चे मित्र की सलाह को ज्यों-का-त्यों मानने का फ़ैसला कर लिया और हर ख़तरे का सामना करने के लिए तैयार होकर मैं सफ़र के लिए रवाना हुआ।

विमान के उड़ने का समय ९-१५ था और काबुल पहुँचने का समय लगभग ११ बजे। पर उस दिन प्रायः एक घंटे की देर हो गई थी। उड्डयन के समय जब परिचारिका ने बताया कि यह यात्रा ३ घंटे में पूरी की जायगी तो कुछ हैरानी हुई, परन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो जाने पर कि काबुल में समय एक घंटा पीछे है, गुत्थी अपने आप सुलझ गयी। हवाई-अड्डे पर मुझे विदा देने के लिए परिवार-जन के अतिरिक्त अनेक सहयोगी, मित्र और छात्र आये हुए थे। चूंकि मैं पहली बार इतनी लम्बी विदेश-यात्रा पर जा रहा था, इसलिए काफ़ी लोग इकट्ठे हो गये थे। मित्रों और छात्रों का यह अकृत्रिम स्नेह, जिसका मैं अनभ्यस्त नहीं हूँ, और परिवार के लोगों की थोड़ी-सी घबराहट मेरे मन को कमज़ोर कर सकती थी, परंतु मैंने प्रवास की अवधि को काट-छाँटकर अपने को काफ़ी आश्वस्त कर रखा था—अतः चलते समय कोई विशेष परेशानी मुझे नहीं हुई। यात्रा सुखद और सरल थी : मैं बैठा-बैठा इधर-उधर की हलकी-फुलकी कल्पनाओं के साथ क्रीड़ा करता हुआ मन को विश्राम देने लगा। इतने ही में किसी ने मेरे कंधे पर हाथ रखा और मैंने मुड़कर देखा कि भारत सरकार के उपमंत्री श्री भक्तदर्शन भी उसी विमान से काबुल जा रहे हैं। लगभग दो घंटे के बाद केबिन से आवाज़ आई कि हम लोग मुलतान पर होकर उड़ रहे हैं। संयोगवश मैंने उत्तर-पश्चिम की यात्रा पहले कभी नहीं की थी—पाकिस्तान बन जाने पर तो वह दुर्लभ ही हो गई है। अतः बड़े कुतूहल के साथ मैं पाकिस्तान की भूमि का निरीक्षण करने लगा। वहाँ [illegible] की ज़मीन

4 61 88

खुश्क और बंजर है—नीचे रेगिस्तान के कुछ टुकड़े भी सूरज की रोशनी में चमक रहे थे, हरियाली के अभाव में पहाड़ मटमैले दिखाई दे रहे थे। मुलतान बड़ा पुराना शहर है, उसके मकान भी दूर से श्यामल वर्ण के ही दिखाई देते थे क्योंकि वहाँ की मिट्टी काली है और शहर पर पश्चिम की नई वास्तुकला का प्रभाव अभी अधिक नहीं है। मुलतान के साथ भारतीय संस्कृति की अनेक रम्य स्मृतियाँ लिपटी हुई हैं : मुझे अनायास पाणिनि और अद्दहमाण की याद आ गई और साथ ही न जाने क्यों अपने सहयोगी डॉ० सत्यदेव चौधरी की भी, जिनका कि जन्म-स्थान मुलतान ही है। मेरा मन प्राचीन भारत के रोमानी प्रदेशों में विचरण करने लगा : 'चन्द्रगुप्त' नाटक के अनेक दृश्य मेरी कल्पना के सामने नाचने लगे; शायद यहीं-कहीं चन्द्रगुप्त और चाणक्य की भेंट हुई होगी। यहीं मालविका ने चन्द्रगुप्त को पहली बार देखा होगा; बुद्धि ने कहा कि मालविका तो कल्पित पात्र है, परन्तु कल्पना ने इसे स्वीकार नहीं किया। लगभग एक घंटे में केबिन से घोषणा हुई कि कुछ ही समय में हमारा विमान काबुल के हवाई-अड्डे पर उतरने वाला है : कृपया कुर्सी-पेटी बाँध लें और सिगरेट इत्यादि न पियें।

काबुल का हवाई-अड्डा रमणीय है : उसमें काँच का मुक्त प्रयोग किया गया है। उस समय दिल्ली के समय के अनुसार १ और काबुल के समय के अनुसार दोपहर के १२ बजे थे। मध्याह्न की प्रखर धूप में हवाई-अड्डा चमचमा रहा था और मुझे लगा कि यहाँ शायद दिल्ली से ज़्यादा गर्मी होगी। उतरते ही भारतीय राजदूत तथा दूतावास के वरिष्ठ अधिकारियों ने श्री भक्तदर्शन का स्वागत किया और हम लोगों से भी भेंट की। इनमें से एक सज्जन परिचित निकल आये और उनके सौजन्य से मेरे दो सहयोगियों के आवास की भी व्यवस्था हो गयी। कार्यालय के भीतर प्रवेश करते ही हम लोगों ने अपने प्रवेश-पत्र आदि दिखाए। यद्यपि नियंत्रण काफ़ी कठोर था, पर शिष्टमंडल के सदस्य होने के कारण हम लोगों से ज़्यादा पूछताछ नहीं की गयी। पंक्ति में

खड़े होकर हम तीनों ने अपने-अपने प्रमाणपत्र दिखाये और कुछ ही देर में हमें सामान लेकर बाहर जाने की इजाज़त मिल गई। हाथ का सामान अधिक होने के कारण मेरी चीज़ें कुछ अस्त-व्यस्त हो गयी थीं और उसी में असबाब की मेरी दोनों रसीदें कहीं गिर गयीं—शायद विमान में ही कुर्सी की जेब में रह गईं। इससे कुछ कठिनाई हो सकती थी परन्तु अधिकारियों ने सौजन्यपूर्वक मुझे अपना असबाब पहचान कर ले जाने की अनुमति दे दी। मेरी दोनों अटेचियाँ नयी थीं जिनको मैं पहली बार अपने साथ लेकर चला था, इसलिए पहचानने में भी थोड़ी-सी दिक़्क़त हो सकती थी, पर मैं जानता था कि अगर मैंने इस बारे में कुछ कहा तो अधिकारियों का धैर्य टूट जाएगा। इसलिए अनुमान से ही मैंने अपना असबाब उठवाकर कुली को दे दिया। काबुल के हवाई-अड्डे के दफ़्तर यों तो बहुत-कुछ वैसे ही हैं जैसे कि 'पालम' के दफ़्तर हैं क्योंकि दोनों की इमारतें और साज-सज्जा विदेशी ढंग की हैं, परन्तु एक अंतर बड़ा स्पष्ट है जो कि तुरंत ही हमारा ध्यान आकृष्ट करता है और वह यह कि पालम पर जहाँ अंगरेज़ी का दौर-दौरा है वहाँ काबुल के हवाई-अड्डे पर उसका कहीं नाम नहीं है। अपनी विमान-सेवाओं के नाम जहाँ 'एयर इंडिया' और 'इंडियन एयर लाइन्स' हैं वहाँ 'अफ़ग़ान-हवाई-शिरकत' का नाम 'आर्याना' है, यहाँ की सेवा-सूचनाएँ जहाँ विदेशी लहजे के साथ अंगरेज़ी में और उनका अनुवाद लड़खड़ाती हिंदी में दिया जाता है वहाँ 'अफ़ग़ान-हवाई-शिरकत' की हर सूचना वहाँ की राजभाषा अफ़ग़ानी या दरी में, अफ़ग़ानी व्यक्तित्व के अनुरूप एक ख़ास मर्दाना अंदाज़ में दी जाती है। दरी की लिपि फ़ारसी ही है इसलिए मुझे वहाँ के बहुत से नाम-पट्ट आदि पढ़ने में मुश्किल नहीं हुई।

महसूल घर से निकलते ही भारतीय दूतावास के एक अधिकारी ने मेरे आतिथेय श्री तलवार से परिचय कराया जो बाहर खड़े हुए मेरे बारे में पूछताछ कर रहे थे। मैंने सामान उनकी गाड़ी में रखा और

अपने सहयोगियों के साथ काबुल-ताशकंद टिकट की संपुष्टि के लिए संबंधित कार्यालय में पहुँचा । सामान्यतः इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी क्योंकि हमारी टिकट दिल्ली से ही पक्की हो चुकी थी, फिर भी हमने अतिरिक्त सावधानी बरतने में कोई हर्ज नहीं समझा । तलवार साहब हमारी टिकट लेकर गये, पर थोड़ी देर में ही लौटकर बोले कि संपुष्टि यहाँ नहीं हो सकती—इन लोगों का कहना है कि कल के हवाई जहाज़ में तो जगह नहीं है और इसकी सूचना भी दिल्ली भेजी जा चुकी है । यह सुनकर बड़ी हैरानी हुई और जब अधिकारियों से यह कहा गया कि हमारी यात्रा की व्यवस्था तो दिल्ली से ही पक्की हो चुकी है तो उन्होंने उत्तर दिया कि शहर के दफ़्तर में जाकर पता कीजिए । यह सुनकर मेरे दोनों साथी भी, जो अब तक इंडियन एयर लाइन्स के अफ़सर से इस बात के लिए आग्रह कर रहे थे कि सिद्धान्ततः यात्रा के दौरान में उनके आवास आदि के प्रबन्ध का दायित्व विमान-सेवा पर ही है, चिंतित हुए और सिद्धांत के प्रश्न को छोड़कर व्यावहारिक समस्या के प्रति उन्मुख हो गये । समस्या वास्तव में बड़ी विषम थी क्योंकि यदि १३ तारीख़ को हमें जगह न मिलती तो फिर चार दिन काबुल में ही रहना पड़ता जिसका न कोई प्रबंध था और न कोई औचित्य अथवा आकर्षण । मेरा मन सहसा उदास हो गया—बच्चों के सहमे हुए चेहरे आँखों के सामने आ गये और माँ तथा पत्नी की भर्रायी आवाज़ कानों में गूँजने लगी । मैं सोचने लगा कि ऐसी स्थिति में तो मैं दिल्ली लौट जाऊँगा और इस विचार से मुझे राहत मिली, पर तुरंत ही ध्यान आया मुझे मित्रों और शुभ-चिंतकों के उस वृहद् समुदाय का जो बड़े उत्साह से मुझे विदा देने के लिए पंद्रह मील दूर गया था—यदि मैं उतने घंटे भी विदेश में नहीं रहता जितने व्यक्ति मुझे छोड़ने आये थे तो वे क्या सोचेंगे ? और एक विचित्र द्विविधा मेरे मन में उत्पन्न हो गयी जो मन की उदासी को और भी गहरा करने लगी । इतने में ही दफ़्तर आ गया और किसी विशेष

बाधा के बिना ही कुछ देर में हमारी काबुल-ताशकंद-यात्रा की संपुष्टि हो गयी। एक बड़ा मसला हल हुआ और मैंने मन-ही-मन भगवान् का धन्यवाद किया। तुरन्त ही हम श्री तलवार के निवास-स्थान पर लौट आये और यही निश्चय हुआ कि सब लोग वहीं भोजन कर लेंगे। श्री तलवार के यहाँ मेरे लिए खाना बना ही था, इधर मैं भी दो-तीन व्यक्तियों के भोजन की व्यवस्था करके चला था, इसलिए श्रीमती तलवार को दो अतिरिक्त अतिथियों के लिए कोई विशेष प्रबंध करने की आवश्यकता नहीं थी। पर गाड़ी से सामान निकालते समय देखा कि खाने का डिब्बा वहाँ नहीं था। यह सोचकर कि उसे अपने दो मित्रों को सौंपकर मैं श्री तलवार के साथ चला जाऊँगा—खाना मैंने गाड़ी में नहीं रखा था—और आगे की यात्रा के बारे में झंझट खड़ा हो जाने के कारण, हड़बड़ी में वह काबुल के हवाई-अड्डे पर ही छूट गया। मेरी माँ ने चार बजे से उठकर खाना बनाया था और वह विदेश में आकर इस तरह छूट गया, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। पर समय काफ़ी हो चुका था—इसलिए उसको ढूंढने का विचार स्थगित कर हम लोगों ने भारतीय भोजन किया जिसके बारे में मेरे मित्र श्रीमती तलवार को विस्तार से पत्र लिख चुके थे।

काबुल में समय एक घंटा पीछे चल रहा था—इसलिए हम इन सारी उलझनों के बावजूद तीन बजे के लगभग शहर में घूमने के लिए चल दिये। काबुल शहर काबुल घाटी का केन्द्र-स्थल है। इसका आकार त्रिभुज के समान है जिसकी दो भुजाओं के साथ-साथ अस्मई और शेर-दरवाज़ा नामक पहाड़ियाँ खड़ी हैं और बीच में होकर काबुल नदी वहती है। यहाँ की जलवायु अफ़ग़ानिस्तान की सामान्य जलवायु के समान ही है जहाँ चार ऋतुएँ होती हैं: अप्रैल से जून तक वसंत, जुलाई से सितंबर तक ग्रीष्म, अक्तूबर से दिसंबर तक पतझड़ और जनवरी से मार्च तक शीत। यह अत्यंत प्राचीन नगर है जो शताब्दियों से अफ़ग़ानिस्तान की राजधानी रहा है और इस दृष्टि से इसका अपूर्व

महत्त्व है क्योंकि अफ़ग़ानिस्तान, जिसका प्राचीन नाम था आर्याणा, सभ्यता-संस्कृति का समृद्ध केन्द्र है—जहाँ आर्य, बौद्ध, यवन आदि अनेक संस्कृतियों के भग्नावशेष आज भी सुरक्षित हैं। यहाँ भी दिल्ली की तरह नई और पुरानी बस्तियाँ हैं जिनमें प्रायः उतना ही अन्तर है। शहर के कुछ हिस्से काफ़ी आधुनिक और शानदार—पौश हैं, उन पर रूस और अमरीका की व्यावहारिक वास्तुकला का स्पष्ट प्रभाव है। इमारतें ऊँची हैं और काँच का इस्तेमाल खुलकर किया गया है। देश-विदेश के दूतावासों की इमारतें काफ़ी आलीशान हैं। चूँकि वर्षा बहुत कम होती है, इसलिए आम इमारतें, खासकर पुरानी बस्तियों की इमारतें, कच्ची हैं। बाहर से देखने पर वे काफ़ी अनगढ़-सी लगती हैं, पर अन्दर प्रायः साफ़-सुथरी हैं। सड़कें भी भारतीय नगरों की सड़कों के समान कच्ची-पक्की हैं, पर केन्द्रीय और विशिष्ट भागों में तारकोल की बढ़िया सड़कें हैं। सवारियों में ताँगे, बसें और टैक्सियाँ हैं। ताँगे भारत के-से ही हैं, बसें ठीक वैसी ही हैं जैसी कि नई दिल्ली या बम्बई आदि में विदेशी संस्थाओं की बसें होती हैं—यानी हमारी सामान्य बसों से काफ़ी अच्छी और आरामदेह; टैक्सियों में प्रायः रूस की बनी—बड़ी और मज़बूत गाड़ियाँ हैं जो काफ़ी तेज़ रफ़्तार से चलती हैं। दूरी और वज़न आदि की माप के लिए नये मानकों का—किलोमीटर, किलोग्राम आदि का ही प्रयोग होता है। यहाँ का प्रमुख उद्योग है क़ालीनों का निर्माण, जिसमें प्रायः स्त्रियाँ काम करती हैं। बाज़ार नये और पुराने दोनों ढंग के हैं जो हमारे बाज़ारों से भिन्न नहीं हैं; गलियों और मुहल्लों के मोड़ों पर छोटे-छोटे खोके बने हैं जो आस-पास के लोगों की फल-सब्ज़ी, मसाले, मेवा-बिस्कुट आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अंडे और माँस यहाँ के भोजन का मुख्य अंग हैं। मेवा, और फलों में अंगूर, तरबूज़, सर्दा आदि बहुत मिलते हैं—'काबुल में मेवा बये, ब्रज में बये बबूल!' शराब सस्ती है और उसका प्रयोग भी मुक्त रूप से होता है, भोजन के समय लोग पानी की अपेक्षा शराब ही अधिक पीते हैं।

यहाँ की भाषा, जैसा कि मैं अभी संकेत कर चुका हूँ, अफ़ग़ानी या दरी है जो पश्तो से प्रायः अभिन्न है। अच्छी उर्दू जानने वाला व्यक्ति यहाँ आसानी से काम चला सकता है क्योंकि इसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्राचुर्य है। लेकिन एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है : जिस प्रकार भारत की विभिन्न भाषाओं में संस्कृत शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो गया है, इसी प्रकार यहाँ भी अरबी-फ़ारसी के अनेक शब्दों के अर्थ बदल गये हैं। जब हम लोग शहर में घूम रहे थे तो एक जगह हमारे मेज़बान श्री तलवार को उनका पुराना चपरासी मिल गया। वे दरी भाषा में उससे कुशल-प्रश्न कर रहे थे : "बाबा खूब अस्त ? बेगम ख़ूब अस्त ?" और मुझे लग रहा था कि उनका आशय मेरी समझ में आ रहा है—अर्थात् वे पूछ रहे हैं कि बाबा यानी बच्चा अच्छा है, बीबी ठीक हैं ? बाबा और बेगम का प्रयोग तो उर्दू जैसा ही है, ख़ूब का भी उर्दू में इस अर्थ में प्रयोग होता ही है—'है सल्तनत नूरेजहाँ चाहे ख़ूब हो या ख़राब हो।' फ़ारसी के प्रचलित क्रियापदों—अस्त (=है) और नेस्त (=नहीं है) से भी मैं परिचित था, अतः उर्दू के अनेक संज्ञापदों के साथ उनका प्रयोग कर मैं थोड़ा-बहुत काम चलाने लगा। पर शाम को चाय के समय पता चला कि यह भाषिक दुस्साहस ख़तरे से ख़ाली नहीं था। दरी में बेगम का अर्थ, उर्दू की तरह, धर्मपत्नी का न होकर दासी का है और तलवार साहब वास्तव में उस बूढ़े अफ़गान से अपनी नौकरानी यानी उसकी बीबी के बारे में पूछ रहे थे। मैंने कहा : अच्छा हुआ, अर्थ-विकास का यह नया उदाहरण समय पर आपने मुझे सिखा दिया नहीं तो मैं आज शाम की दावत में आपके किसी अफ़ग़ान दोस्त की सम्भ्रांत पत्नी को आदरपूर्वक बेगम कह बैठता—या फिर, मैंने श्रीमती तलवार की ओर देखकर कहा, आपके यहाँ ही सुबह-शाम काम करने वाली बेगमों के बारे में कुछ और ही समझने लगता !

समय के अनुसार हम लोगों ने केवल दो स्थानों को देखने का

कार्यक्रम बनाया—नादिरशाह का मज़ार और करगाह झील ! नादिरशाह वर्तमान शासक के पिता थे, उनका मज़ार प्राचीन वास्तु-शैली की नयी इमारत है। हम लोग अपने अल्प इतिहास-ज्ञान के कारण यह मान बैठे कि ये नादिरशाह अठारहवीं शती के नादिरशाह थे। मज़ार की नवीनता के विषय में हमने यह समाधान कर लिया कि उसका पुनर्निर्माण कर लिया गया है। एक बार मन में आया भी कि उनका काबुल से क्या वास्ता, पर तुरंत ही एक साथी ने उत्तर दिया कि शायद नादिरशाह भारत से लौटते हुए काबुल में मर गया था। इसका प्रतिवाद करने का कोई कारण हमारे पास नहीं था क्योंकि जब सिकंदर रास्ते में मर सकता था तो नादिरशाह को इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी ? यह भ्रांति बहुत क्षम्य तो नहीं मानी जा सकती, पर एकदम अक्षम्य भी क्यों मानी जाए ? बहरहाल, इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि जिस श्रद्धाभाव से हमें वर्तमान शाह के स्वर्गीय पिता-श्री के मज़ार का दर्शन करना चाहिए था, वह हमारे मन में स्वभावतः नहीं आ सका। बाद में जब दिल्ली आकर इतिहास के एक विद्वान् ने हमारी इस अनैतिहासिक धारणा का निराकरण किया तो पूछताछ करने पर वास्तविक तथ्य सामने आया।

करगाह झील काबुल का सौंदर्य-केन्द्र—ब्यूटी स्पॉट है। यह शहर से लगभग २५ किलोमीटर की दूरी पर है। झील काफ़ी चौड़ी और गहरी है जिसमें नौका-विहार की सुन्दर व्यवस्था है। चारों ओर पहाड़ियाँ हैं और झील के एक किनारे पर पक्की दीवार-सी खिंची हुई है जो इतनी चौड़ी है कि उस पर घूमकर जल में क्रीड़ा करने वाली मंथर तरंगों या उसके वक्ष पर संतरण करती हुई नौकाओं की शोभा का आनंद लिया जा सकता है। पास में ही, थोड़ा और ऊपर चढ़कर एक शानदार उपाहार-गृह है जो नये साज-सामान से लैस है। यहाँ बैठने का प्रबंध इस तरह किया गया है कि झील का पूरा दृश्य स्पष्ट दिखायी देता है। ऊपर की मंज़िल में भी ऐसी ही व्यवस्था है जहाँ से

दूर-दूर तक फैली हुई पहाड़ियाँ और काबुल-घाटी की रूपरेखा एकदम आँखों के सामने आ जाती है। थोड़ी देर में ही सांझ की छाया गहरा गयी और बिजली के प्रकाश में जगमग वह उपाहार-गृह संपूर्ण परिदृश्य का केन्द्र बन गया। रेस्तरां में देश-विदेश के स्त्री-पुरुष एकत्र थे। रूस, अमरीका, यूरोप, जापान, दक्षिण-पूर्वी एशिया के नर-नारी जगह-जगह बैठे हुए थे; स्थानीय व्यक्तियों में प्रायः पुरुष ही थे—इनके अतिरिक्त हमारी तरफ़ के लोग भी काफ़ी थे जिनमें हिंदुस्तानी और पाकिस्तानी की पहचान करना कठिन था। श्री तलवार ने बताया कि जिस व्यक्ति से उनकी दुआ-सलाम न हो, उसे आमतौर पर पाकिस्तानी ही मान लेना चाहिए क्योंकि काबुल में रहने वाले भारत के नागरिक तो सभी एक-दूसरे से परिचित हैं ही। इसी चित्र-विचित्र जन-समुदाय में छात्रों का एक दल भी शामिल था जो छोटी-छोटी टोलियों में बँटा हुआ इधर-उधर बैठा था। यह राष्ट्रमंडल का छात्र-दल—कामेक्स था, जहाँ अनेक देशों के छात्र-छात्राओं के सम्मिलित परिवार में एक वर्ग विचित्र वेशभूषा और विलक्षण आचार-व्यवहार के कारण अपने पृथक् अस्तित्व की घोषणा कर रहा था। ये बीइटिल संप्रदाय के लोग थे जिनके बाल बिखरे हुए, दाढ़ी बढ़ी हुई, कपड़े—पैंट व निकर—मैले और कुछ-कुछ फटे हुए-से थे। इस तरह के जीव पूर्ववर्ती युग में बोहिमियन या रिंद और वर्तमान युग में बीइटिल कहलाते हैं। एक मेज़ पर इसी वर्ग के दो किशोर और एक किशोरी बैठे हुए थे जो जलपान करने के बाद बिल के साथ उपस्थित बैरे के मुख की ओर अर्धमीलित नेत्रों से देख रहे थे और बैरा पूछ रहा था—नो मनी—आपके पास पैसा नहीं है? हमारे एक साथी ने कहा—इस संप्रदाय के युवक अब अपने देश में भी दिखायी पड़ने लगे हैं। इनका लक्ष्य क्या है? मैंने कहा: ये नवचिंतन के प्रतीक हैं, जो शब्द के वेध्य उपकरणों को पार कर अब जीवन-व्यवहार में व्यक्त हो रहा है। इसी छात्र-दल में कुछ भारतीय विद्यार्थियों से भी भेंट हुई जो बेचारे काफ़ी परेशान थे क्योंकि हमारे

पड़ोसी राज्य पाकिस्तान ने उन्हें प्रवेश-पत्र देने से इंकार कर दिया था। हमें यह देखकर संतोष हुआ कि चिंताग्रस्त होने पर भी इन युवकों का व्यवहार अत्यन्त शिष्ट और संयत था।

रात हो आई थी और हम अपने आतिथेय के घर लौट आये। काबुल में और कुछ देखने का हमारे पास समय नहीं था; मैं विश्व-विद्यालय में एक बार जाना चाहता था पर वह संभव नहीं हुआ। यह विश्वविद्यालय नया ही है, पर इसका विकास निरंतर हो रहा है। यहाँ प्रायः सभी प्रमुख विषयों की शिक्षा की व्यवस्था है—भाषा-संस्थान में हिंदी-संस्कृत के भी अध्ययन का प्रबंध है। हमारी इच्छा खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खाँ के दर्शन करने की थी, किन्तु वे काबुल से लगभग १५० किलोमीटर की दूरी पर जलालाबाद में थे, इसलिए उसकी भी संभावना नहीं थी।

इस प्रकार, कुछ घंटों में काबुल नगर का परिभ्रमण करने के बाद मैं अपने मानस-चित्रों का समाकलन कर कल्पना में एक समग्र बिम्ब का निर्माण करने लगा। श्रीनगर के समान काबुल शहर भी घाटी में बसा हुआ है, फ़र्क़ इतना है कि श्रीनगर के भीतर और बाहर चारों ओर पर्वतमाला पर हरियाली छाई रहती है जबकि काबुल की भूमि और आसपास के पहाड़ खुश्क-से हैं। यहाँ के निवासी कश्मीरियों की अपेक्षा बलिष्ठ अधिक, किन्तु रूपवान् कम हैं। उनकी वेशभूषा खान या बलोचियों की वेशभूषा से प्रायः अभिन्न है। आदमी आराम-पसंद हैं: हड्डियाँ तोड़कर मेहनत करने के बजाय रूखा-सूखा खाकर संतोष से रहना उन्हें ज़्यादा पसंद है। निम्नवर्ग को छोड़ शेष दोनों वर्गों की स्त्रियाँ प्रायः बाहर नहीं दिखायी देतीं; बुर्क़े का चलन है: बाज़ारों और सड़कों पर पश्चिमी पोशाक पहने विदेश की स्त्रियाँ ही नज़र आती हैं। हाँ, स्कूल की लड़कियाँ पर्दा नहीं करतीं—कुछ स्कूल कॉन्वेंट ढंग के हैं। हम जब शहर में घूम रहे थे तो किसी बड़े स्कूल की छुट्टी हुई थी—काली फ्रॉक और स्कर्ट पहने हुए छोटी-बड़ी अनेक छात्राएँ बसों

में या पैदल क़तार बाँधकर जा रही थीं। काली साटन के वस्त्रों में चमकते हुए उनके गुलाबी चेहरे ऐसे लगते थे जैसे काली मख़मल पर गुलाब के फूलों की पंक्तियाँ कढ़ी हुई हों। सब मिलाकर मुझे लगा कि विभाजन से पहले अफ़ग़ानिस्तान और हिंदुस्तान का अंतर बहुत कम रहा होगा—उत्तर-पश्चिम के शहरों, ख़ासकर पेशावर, क्वेटा आदि के लोग काबुल में अपने को अजनबी महसूस नहीं करते होंगे। आज भी जो कश्मीर में रह चुका है, वह काबुल में पहुँचकर वह अनुभव शायद नहीं करेगा कि मैं एकदम विदेश में आ गया हूँ। मुझे भी यही लगा कि मैं भारत से बाहर तो आ गया हूँ, किन्तु एकदम अनजान देश में नहीं हूँ।

काबुल से ताशकंद

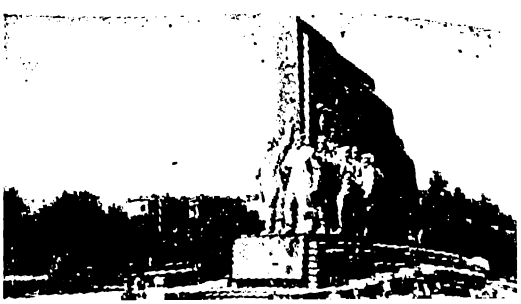

काबुल से अफ़ग़ान हवाई शिरकत का विमान आर्याना काबुल-समय के अनुसार प्रातः नौ बजे उड़ा और ताशकंद-समय के अनुसार सवा दस बजे के लगभग वहाँ पहुँच गया—यानी १ घंटे का अंतर जोड़कर २½ घंटे में यह यात्रा पूरी हो गयी। काबुल से ताशकंद का किराया है चार सौ अठत्तर (४७८) रुपये और प्रायः इतना ही दिल्ली से काबुल तक का है। यह हवाई-जहाज़ भारतीय वाइकाउंट की ही श्रेणी का था, परंतु उसकी अपेक्षा कुछ अधिक मज़बूत और अनगढ़ था। विमान के उड़ते ही मेरी कल्पना ने भी पंख खोल दिये और मैं सोचने लगा कि आर्यों का मूल निवास-स्थान यही प्रदेश है। मनु और श्रद्धा का प्रथम मिलन यहीं हुआ होगा। गांधार प्रदेश वर्तमान क़न्धार के आस-पास इसी भूमि पर कहीं रहा होगा। गन्धर्वों के इसी देश में ललित कला का ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा अपने पिता के देश से आयी होगी और सहसा प्रलय हो जाने पर अकेली रह गयी होगी। काला और नीला मेपचर्म, जो काबुल में मैंने देखा था, मेरी इन ललित कल्पनाओं को पुष्ट करने लगा। और···तुरंत ही 'कामायनी' का वह अप्रिय प्रसंग भी मुझे याद आ गया। इड़ावृत्त की भी स्थिति शायद इसी के आस-पास पश्चिम या उत्तर की ओर मानी गयी है, जहाँ 'नूतनता के लोभी' मनु श्रद्धा से विमुख होकर चले गये थे : देवासुर-संग्राम का वह भग्नावशेष, जहाँ मनु की चेतना में जीवित असुर ने देवता को पराजित कर दिया था। इतने में ही सूचना मिली कि हमारा हवाई-जहाज़ शीघ्र ही ताशकंद के हवाई-अड्डे पर उतरने वाला है और ताशकंद

आ गया। ताशकंद का हवाई-अड्डा और भी शानदार था—उसका विशाल प्रांगण मीलों तक विस्तृत था। सोवियत संघ में रेलगाड़ी की अपेक्षा विमान का सफ़र सस्ता पड़ता है, क्योंकि लोग प्रायः उसी से आना-जाना पसंद करते हैं। ताशकंद से मास्को का किराया केवल ४० रूबल है और दूरी लगभग २,५०० मील है। इसलिए हवाई-अड्डे पर विमानों का यातायात निरन्तर लगा रहता है। काबुल से ताशकंद जहाँ सप्ताह में दो हवाई-जहाज़ आते-जाते हैं, वहाँ ताशकंद से मास्को के लिए प्रतिदिन पाँच विमान चलते हैं।

हवाई-जहाज़ से उतरते ही उज़बेक-भारत-मैत्री-संघ के सचिव श्री इसराइल ने हिंदी में हमारा स्वागत किया। वे अंगरेज़ी भी खूब जानते थे—शायद हिंदी से ज़्यादा ही जानते थे, पर हम लोगों से हिंदी में ही बात करना उन्हें अच्छा लगता था। हवाई-अड्डे के भव्य विश्राम-गृह में कुछ देर तक बैठने के बाद हम चल दिये। रास्तों पर जगह-जगह हमारे लिए शुद्ध हिंदी में स्वागत-वाक्य लिखे हुए थे : 'स्वागतम् भारतीय मित्रो !'—'भारतीय प्रतिनिधियों को हमारी भ्रातृभावपूर्ण नमस्ते।' मैंने देखा कि भाषा की शुद्धता की रक्षा करने के लिए 'स्वागतम्' पर सावधानी से 'हल्' भी लगा हुआ था और 'भ्रातृभावपूर्ण' में 'ण' पर जो 'रेफ़' छूट गया था, उसके लिए हमारे हिन्दी-परिवाचक बार-बार क्षमा-याचना करते थे। नगर के मुख्य चौक में क्रांति के सेनानियों की कई मूर्तियां अभियान की मुद्रा में स्थापित थीं जिनके निकट ही गैस के द्वारा 'अखंड ज्योति' प्रज्ज्वलित थी। हमारे ठहरने का प्रबंध एक विशेष सरकारी होटल में किया गया था। यह वही स्थान था जहाँ ताशकंद-समझौते के समय भारतीय राजनयिक-मण्डल ठहरा था। होटल शहर से काफ़ी दूर अत्यंत शांत वातावरण में एक विशाल उद्यान में स्थित है, उसकी इमारत साफ़-सुथरी और सादा है; कमरों का साज-सामान बहुत अच्छा है और सभी आवश्यक उपकरण वहाँ उपलब्ध हैं। भोजन और उपाहार का संदर-स्वच्छ प्रबंध है;

धुलाई और हजामत की व्यवस्था है, हर कमरे में फ़ोन है—इत्यादि। यद्यपि ताशकंद शहर में नान और तंदूरी मिल जाती है, फिर भी हमारा होटल चूंकि आधुनिक ढंग का था, इसलिए वहाँ उनकी कोई व्यवस्था नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि मुझ जैसे निरामिष-भोजी के सामने थोड़ी दिक़्क़त पेश आयी। दही का वहाँ प्राचुर्य था और वह दही भी क्रीम का था; फलों से मेज़ लदी रहती थी—और भी अच्छे-अच्छे व्यंजन थे, पर उत्तर भारत के आदमी को एक-दो दिन में ही दाल-रोटी की हुड़क होने लगती है। खाने का तो गुज़ारा हो गया, पर पानी की समस्या सामने थी। ताशकंद का अपना ख़ास पानी होता है जो चश्मों से सीधा लेकर वैज्ञानिक रीति से बोतलों में बन्द कर रखा जाता है। इसे खनिज जल कहते हैं—और यद्यपि स्वास्थ्य की दृष्टि से यह अत्यंत गुणकारी होता है, पर स्वाद इसका सोडे का-सा होता है। यह पानी मेरे गले में नहीं उतरता था, दो-एक बार तो विवेक-बल से इसे पी लिया, पर बाद में जब उससे प्यास ही नहीं बुझी तो मैंने एक जानकार व्यक्ति से पूछा कि, "इस पानी के गुण तो मैं समझ गया, पर सादा पानी के अवगुण भी जानना चाहता हूँ: क्या उससे कुछ तकलीफ़ हो जाती है?" उन्होंने उत्तर दिया कि, "ऐसा तो नहीं है, पर खनिज जल (मिनरल वाटर) अधिक स्वास्थ्यप्रद होता है।" इस उत्तर से मैं आश्वस्त हो गया और मैंने जानना चाहा कि सादा पानी को रूसी भाषा में क्या कहते हैं। परिवाचक ने कहा, 'प्रस्तोइ वादा'; बस मेरा काम चल गया और मैंने दोनों शब्द आसानी से याद कर लिए—वाटर का समानार्थक 'वादा' और प्रस्ताव के ध्वनि-साम्य पर 'प्रस्तोइ'। अगली बार भोजन के समय मैंने परिचारिका से कहा—'प्रस्तोइ वादा'; उसने मेरी ओर एक बार कुतूहल से देखा और सादा-स्वच्छ जल की एक बोतल लाकर रख दी। पर मेरे पीने से पहले ही पाँच-छह साथी, जो मेरी ही तरह ताशकंद के उस स्वास्थ्यवर्द्धक पानी से घबरा गये थे, उस पर टूट पड़े। इस प्रकार 'प्रस्तोइ वादा' ने पानी की समस्या हल कर दी—

दाल-रोटी की समस्या का समाधान मास्को में श्री नरेश वेदी के घर हुआ। होटल में हज्जाम का भी प्रबंध था। अन्य सामान्य सेवाओं की भाँति यह काम भी एक स्त्री के ही सुपुर्द था। हमारे परिवाचक प्रायः अपना क्षौर-कर्म वहीं कराते थे। एक दिन प्रातःकाल वे मुझसे बार-बार कहने लगे कि अपने-आप हजामत करने के बजाय मैं सैलून में क्यों नहीं आ जाया करता। मैंने उत्तर दिया कि, "अक़्लमंद आदमी औरतों से हजामत नहीं कराते।" वे बेचारे अपने सीमित हिंदी-ज्ञान के आधार पर मेरा आशय नहीं समझे और कहने लगे कि, "आप लोग बड़े रूढ़िवादी हैं—हजामत औरत करती है या मर्द, इससे क्या अंतर पड़ता है?" आखिर मुझे उन्हें मुहावरे का अर्थ समझाना पड़ा जिसे सुनकर वे बड़े हँसे और उज़बेक भाषा में हज्जाम देवी को मेरे मज़ाक का अर्थ समझाने लगे।

भारतीय स्वातंत्र्य-पर्व के आयोजनों का केन्द्र था उज़बेकिस्तान—और मुख्य समारोह हुआ ताशकंद के निकटवर्ती उपनगर चिरचिक में। इस समारोह में चिरचिक के महापौर के अतिरिक्त उज़बेक राज्य के मंत्री और अधिकारी भी उपस्थित थे। मास्को से भारतीय राजदूत श्री केवलसिंह भी आये हुए थे। इधर भारत के तीनों प्रतिनिधिमंडल भी वहाँ एकत्र हो गये थे: एक में राज कपूर, सुनीलदत्त, महेन्द्र कपूर और दूसरे में बेगम अख़्तर, सुरेन्द्र कौर आदि कलाकार थे; तीसरे में हम लोग थे। सभा-भवन खचाखच भरा हुआ था—आस-पास के नगरों के 'बालक, युवा, वृद्ध नर-नारी' हज़ारों की संख्या में एकत्र थे और पूरी निष्ठा के साथ हमारे स्वातंत्र्य-समारोह में भाग ले रहे थे। यह वास्तव में एक विचित्र अनुभव था, और जैसा कि भारतीय राजदूत तथा अन्य वक्ताओं ने बार-बार स्वीकार किया, ऐसा उल्लास और उत्साह पंद्रह अगस्त को दिल्ली में भी देखने को नहीं मिलता। पहले भाषण हुए, जिनमें सोवियत-संघ के विशिष्ट प्रतिनिधियों ने अपनी भाषा में अतिथियों का स्वागत तथा भारतीय स्वातंत्र्य-पर्व का अभिनंदन किया

और फिर गीत-नृत्य आदि का सांस्कृतिक कार्यक्रम आरम्भ हुआ। मौसम काफ़ी गर्म था और हॉल में पंखे नहीं थे, पर उपस्थित नर-नारी तन्मय होकर कार्यक्रम का आनंद ले रहे थे। उस प्रदेश में हिंदी-फ़िल्में काफ़ी लोकप्रिय हैं, अतः राज कपूर के नाम से आबाल-वृद्ध सभी परिचित थे और बार-बार उनकी माँग कर रहे थे। आख़िर राज कपूर मंच पर आये और उन्होंने 'आवारा' का प्रसिद्ध गीत 'मैं आवारा हूँ' अपनी ख़ास मस्ती के साथ पेश किया। भाषणों के अनुवाद की उपयुक्त व्यवस्था थी—अभ्यस्त परिवाचक[1] उज़बेक भाषा से हिंदी में और हिंदी से उज़बेक भाषा में अनुवाद करते चलते थे। वहाँ की भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्राधान्य है, इसलिए हमारे वक्ताओं के लिए भी उनका आश्रय लेना आवश्यक हो जाता था। श्री केवलसिंह के भाषण को सुनकर तो मैंने समझा कि उनकी भाषा शायद उर्दू ही है—हिंदी में बोलना उनके लिए सुकर नहीं है। पर जब हमारे मित्र श्री शिवदान सिंह ने भी शाइस्ता अल्फ़ाज़ का आलिमाना इस्तेमाल हिंदवी लबो-लहजे में शुरू किया तो रहस्य मेरी समझ में आ गया। वास्तविकता यह है कि फ़ारसी-अरबी के शब्द-ज्ञान के आधार पर आप मध्य एशिया के शहरों में थोड़ा-बहुत काम चला सकते हैं।

सांस्कृतिक कार्यक्रम के अंतर्गत भारतीय नृत्य और संगीत के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये—और उधर आतिथेय-वर्ग ने उनके प्रत्युत्तर में उज़बेक-कला के नमूने पेश किये। एक भारतीय महिला ने भारतीय और उज़बेक दोनों शैलियों का नृत्य-प्रदर्शन किया। इनका प्रेक्षण करने के बाद मुझे लगा कि भारत और उज़बेकिस्तान के लोक-नृत्य में बहुत बड़ा अंतर नहीं है। यदि यवनिका के पीछे दोनों का आयोजन किया जाए तो सामान्य जन को शायद दोनों में भेद करना कठिन हो जाएगा। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि मानव-

---

१ रूसी भाषा में इंटरप्रेटर के लिए प्रचलित शब्द है—परिवाचक।

इतिहास के प्राचीन युगों में मध्य एशिया और उत्तर भारत के लोक-जीवन में दुर्लघ्य दीवारें नहीं थीं। अभिजात अथवा श्रेण्य कला में भेद स्पष्ट है। भारतीय नृत्य-शैलियों में उपलब्ध लय के वे सूक्ष्म अलंकरण वहाँ अप्राप्य हैं—उज़बेक नृत्य-शैलियों की लय प्रायः ऋजु-सरल होती है जो व्यायाम के कतिपय नृत्यमय भेदों के निकट पड़ती है। मास्को में बैले नृत्य देखकर मेरी यह धारणा और भी पुष्ट हो गयी जबकि एक युगल ने पहले तो अत्यंत मनोरम हंस-नृत्य प्रस्तुत किया—और कुछ समय बाद व्यायाम के कुछ रूप नृत्यमयी मुद्राओं के साथ प्रस्तुत किये।

दूसरे दिन प्रातःकाल १०-३० बजे ताशकंद के प्रसिद्ध कला-केन्द्र 'पैलेस ऑफ़ आर्ट' में भारतीय कार्यक्रम के ही संदर्भ में दो प्रदर्शनियों का आयोजन किया गया—'राजस्थान का जीवन' और 'भारतीय ग्रंथ-प्रदर्शनी'। पहली में राजस्थानी जीवन के विभिन्न रूपों की सुंदर झांकियाँ प्रस्तुत की गयी थीं और दूसरी में उज़बेकिस्तान में उपलब्ध भारतीय ग्रंथों का प्रदर्शन था जिनमें से अधिकांश का सम्बन्ध भारतीय राष्ट्र-चेतना तथा भारत-रूस-मैत्री आदि विषयों से था और अनेक का प्रकाशन सोवियत-संघ में ही हुआ था। इस समारोह में बहुत-से चित्र खींचे गये—फ़ोटोग्राफ़र काफ़ी बड़ी संख्या में वहाँ एकत्र थे और भिन्न-भिन्न अवसरों के चित्र खींच रहे थे। उनमें से एक पहलवान-सा फ़ोटो-ग्राफ़र, जो औरों की अपेक्षा अधिक सक्रिय था, हाथ से बार-बार मुझे भारतीय राजदूत के निकट आने के लिए इशारा करने लगा। पहले तो मैं उसका आशय समझा नहीं, पर जब उसका मंतव्य मेरी समझ में आ गया तो मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि शायद यह किसी साहित्यिक पत्र का फ़ोटोग्राफ़र है जो मेरी ओर विशेष रूप से इसलिए आकृष्ट है कि मैं लेखक हूँ। यह कल्पना मेरे अहंकार को परितुष्ट कर सकती थी, पर तुरंत ही मेरे ध्यान में आ गया कि यह मेरी अपेक्षा मेरी वेशभूषा—कुर्ता-धोती—को अधिक महत्त्व दे रहा है। इन प्रदर्शनियों का महत्त्व तो सांकेतिक एवं सामयिक ही था—वहाँ की असली प्रदर्शनी है विकास-

प्रदर्शनी, जहाँ संपूर्ण राज्य के बहुविध उत्कर्ष का समग्र चित्र मिलता है। ताशकंद के खनिज पदार्थ, उत्पादन-व्यवस्था, उद्योग-धंधे, शिक्षा-तंत्र, रहन-सहन आदि सभी का जीवंत विवरण वहाँ सहज सुलभ है। ताशकंद सोवियत-संघ का अत्यंत समृद्ध राज्य है—विशेषकर कृषि के क्षेत्र में। परिवाचिका ने गर्व से हमें बताया : कपास की पैदावार यहाँ इतनी अधिक होती है और उसकी वजह से कपड़ा इतना अधिक तैयार होता है कि उससे संपूर्ण भूमंडल को पाँच बार लपेटा जा सकता है। ताशकंद प्रकृति के वैभव का देश है—फूलों और फलों का ऐसा प्राचुर्य अन्यत्र दुर्लभ है। अंगूर, सेब, सर्दा, तरबूज़, आड़ू और तरह-तरह के फूलों से सारा प्रदेश भरा पड़ा है। घरों में बग़ीचे लगे हुए हैं—बेलों पर अंगूर इतने ज़्यादा लगे रहते हैं कि चलते-चलते यदि आप अपना मुँह इधर-उधर मोड़ें तो अंगूर के गुच्छे मुँह में आ जायँ। सामूहिक कृषि-केन्द्रों पर सेबों के ढेर जगह-जगह इस तरह चिने रहते हैं जिस तरह कि हमारी सड़कों के किनारे कंकड़ों के ढेर लगे रहते हैं। वहाँ के फूलों के रंग और रूप-आकार हमारे देश के उन्हीं फूलों के रंग-आकार की अपेक्षा कहीं गहरे और बड़े होते हैं। फलों के बारे में भी यही बात है—सवेरे जब मैं अपना उपाहार फलों से शुरू करता तो प्रायः एक आड़ू से—जो शलजम के बराबर होता है—मेरा पेट भर जाता था। तरबूज़ और सर्दा भी वहाँ खूब होता है। तरबूज़ को वे लोग 'अरबूज़' कहते हैं; सर्दा वहाँ का बहुत बड़ा और मीठा होता है—प्रवाद है कि बाबर को दिल्ली में आकर सर्दा की याद बराबर आती थी और वे कहा करते थे कि इस बदबख़्त ज़मीन पर सर्दा भी नहीं उगता। फूलों और फलों का यह अपार वैभव प्रकृति का अयाचित दान नहीं है। उस इलाक़े में वर्षा अधिक नहीं होती, लेकिन वहाँ की सिंचाई की व्यवस्था इतनी विकसित है कि ख़ुश्क ज़मीन भी रूप और रंग उगलने लगती है।

ताशकंद का 'पैलेस ऑफ़ आर्ट', जहाँ पूर्वाह्न में भारतीय स्वातंत्र्य-

पर्व का दूसरा उत्सव हुआ था, एक अद्‌भुत स्थान है। इसका रंगमंच अत्यंत विशाल है और प्रेक्षागृह में लगभग ५,००० व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था है। प्रकाश की व्यवस्था इस प्रकार से की गयी है कि दर्शकों को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। १४ अगस्त की शाम को इसी प्रेक्षागृह में एक स्वागत-समारोह हुआ जिसमें मुख्य अतिथि थे राज कपूर, सुनीलदत्त और उनके परिवार के अन्य सदस्य : नरगिस को भी आना था किंतु वे किसी अनिवार्य कारण से मास्को में रुक गयी थीं। ये सभी बड़े मस्त जीव थे; राज कपूर सभी से बड़ी बेतकल्लुफ़ी से मिलते थे और हर वक़्त कोई-न-कोई फुलझड़ी छोड़ते रहते थे। कुछ ही देर में सुनीलदत्त का वाक्‌चित्र 'आम्रपाली' प्रस्तुत किया जाने वाला था। उसकी चर्चा होते ही आप, पास में खड़े हुए सुनीलदत्त को अनदेखा कर, बड़ी ही सादगी से कहने लगे—"फ़िल्म तो बिलकुल रद्दी है, पर देखने में कोई हर्ज नहीं है।" जब परिवाचक ने इसका अनुवाद किया तो ताशकंद के कुछ दोस्त जो इस मज़ाक को नहीं समझ पाये, हैरान होकर उनकी ओर देखने लगे। वास्तव में उन्होंने सादगी और संजीदगी का ऐसा अभिनय किया कि एक बार तो हमारे भी दो-एक साथी यह सोचने लगे कि यह आदमी भारतीय फ़िल्म की बुराई अपने मेज़बानों से क्यों कर रहा है? पर सुनीलदत्त के सामने ही यह सब टीका-टिप्पणी हो रही थी, इसलिए ग़लतफ़हमी के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। कुछ ही समय बाद 'आम्रपाली' का प्रदर्शन आरम्भ हो गया। फ़िल्म लम्बी थी, उसमें कला की दृष्टि से अनेक स्पष्ट दोष थे—साहित्य की दृष्टि से और फ़ोटोग्राफ़ी आदि की दृष्टि से भी। कथावस्तु में भी इतिहास के साथ काफ़ी ज़ोर-ज़बर्दस्ती की गयी थी। इन सब दोषों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था; पर मुझे लगा जैसे हमारे भारतीय मित्र, जो सोवियत भूमि की हर चीज़ को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाते थे, इस चलचित्र के प्रति आवश्यकता से अधिक कठोर हो रहे थे। अनेक दृष्टियों से यह चित्र अवसर के सर्वथा उपयुक्त था—

इसमें भारत की प्राचीन संस्कृति-सम्यता, नृत्य-संगीत आदि का सुंदर समावेश था जो ताशकंद के निवासियों के लिए निश्चय ही आकर्षण का विषय था। इसके अतिरिक्त प्रतिपाद्य भी उसका सर्वथा सामयिक था—युद्ध पर शांति की विजय। अतः दोषों के प्रति सतर्क होते हुए भी मेरा यह मत था कि कुल मिलाकर फ़िल्म का चुनाव ग़लत नहीं हुआ। ताशकंद की जनता ने, जहाँ तक मुझे मालूम है, उसका पूरा आनंद लिया, यद्यपि वृत्त का विस्तार उनको भी थोड़ा-बहुत अखरा। मेरे लिए चलचित्र तो वास्तव में गौण बन गया था : मैं तो उस विशाल प्रेक्षागृह में बैठे हुए उस अपार जन-समुदाय की निश्चित मनोवृत्ति का मुग्ध-भाव से अध्ययन कर रहा था।

अपराह्न में हम लोग वृत्त-चित्र देखने गये—एक का विषय था 'ताशकंद-भूकम्प' और दूसरे का 'ताशकंद-समझौता'। कुछ वर्ष पूर्व ताशकंद में एक के बाद एक भूकम्प आये जिनसे नगर की अपार क्षति हुई—पुराना हिस्सा तो एकदम ध्वस्त ही हो गया था। वृत्त-चित्र में भूकम्प की विभीषिका का प्रदर्शन तो था ही, पर बल दिया गया था वहाँ के नागरिकों के अदम्य उत्साह और समस्त सोवियत-संघ के कर्मठ सहयोग पर : संपूर्ण राष्ट्र अपने अपार साधनों के साथ ताशकंद की ओर उमड़ पड़ा—ऐसा लगता था कि प्रकृति के रुद्र-कोप का सामना करने के लिए मानव की संघ-शक्ति मानो सीना तानकर खड़ी हो गयी हो। अंत में विजय मानव की ही हुई और ताशकंद ने शीघ्र ही जीर्ण-पुरातन का त्याग कर नवीन रूप धारण कर लिया—नाश के उपकरणों में से जीवन का नव-निर्माण हो गया। दूसरा वृत्त-चित्र था 'ताशकंद-समझौता', जिसका चयन हमारी भावना के अनुरूप किया गया था। कुछ ही क्षणों में वह ऐतिहासिक वृत्त, जो विद्युच्चक्र के समान कौंधकर काल के अन्तराल में विलीन हो गया था, हमारी आँखों के सामने झूल गया। ताशकंद हवाई-अड्डे पर शास्त्री जी के विमान एयर इंडिया का अवतरण—वरिष्ठ सहयोगियों के साथ भारत के प्रधानमंत्री का

हँसते हुए अपनी सहज विनीत मुद्रा में प्रकट होना; पूरे दल-बल को लेकर सोवियत प्रधानमंत्री द्वारा उनका हार्दिक स्वागत; पाकिस्तान के राजकीय परिकर का आगमन—भारतीय और पाकिस्तानी राष्ट्रनायकों के अंतर्वाह्य व्यक्तित्व का स्पष्ट अंतर, जो मित्र देश के संपूर्ण संतुलन-प्रयत्नों के बावजूद एकदम उभरकर सामने आ गया था; दोनों प्रतिनिधिमंडलों का परस्पर मिलन—आंतरिक भावनाओं को शिष्ट व्यवहार में संयत करने का प्रयत्न; सोवियत प्रधानमंत्री श्री कोसीगन का निश्छल सद्भाव से ओत-प्रोत प्रारंभिक वक्तव्य; वार्त्ता-गोष्ठियों के अत्यंत व्यस्त कार्यक्रम; अंतिम दौर—शास्त्री-अयूब की एकांत वार्त्ता; समझौते की घोषणा—सोवियत-प्रेस और जन-समुदाय में उल्लास की लहर; शांति-प्रयत्न की सफलता अथवा विश्व-शांति की दिशा में पहला क़दम;—और उसके कुछ ही समय बाद मोटे-काले अक्षरों में दुःसंवाद—भारतीय प्रधानमंत्री की अचानक मृत्यु ! मानो चरम-बिंदु पर पहुँचकर कोई नाटकीय द्वंद्व समाहित होकर सहसा टूट गया हो सुखात्मक संहति सिद्ध होते-होते बिखर गयी हो। नवीन-प्राचीन नाट्य-शास्त्र में नाटक के अंत के विषय में अनेक विकल्पों की कल्पना की गयी है : सुखात्मक और दुःखात्मक के अतिरिक्त नाटक का अंत सुख-दुःखात्मक भी हो सकता है; परंतु सुख-दुःख के भोक्ता अलग-अलग होते हैं—सिद्धि के बाद स्वयं नायक की मृत्यु का विधान शायद कहीं नहीं है। एकदम चित्र बदल गया; सर्वत्र विषाद और करुणा का वातावरण व्याप्त हो गया। ताशकंद के असंख्य जन-समुदाय और सोवियत-संघ के वरिष्ठ राजनयिक नेताओं एवं मंत्रिमंडल के सदस्यों ने शास्त्री जी की शव-यात्रा में भाग लिया और ताशकंद हवाई-अड्डे पर दिवंगत नेता को अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित की। प्रधानमंत्री कोसीगन ने स्वयं अर्थी को उठाने में मदद की। राष्ट्रपति अयूब ने क्षण-भर श्री कोसीगन की ओर देखा और तुरंत ही आगे बढ़कर कंधा दिया। एक विचित्र दृश्य था ! यह वृत्त-चित्र शायद भारत में बहुत

पहले आ चुका था, पर मैंने नहीं देखा था। ताशकंद में इसका प्रभाव कुछ और ही था—कहीं अधिक प्रत्यक्ष और गहरा; लगता था मानो हम लोग भी उस ऐतिहासिक नाटक के पात्र बन गये हों।

रात को देर तक मैं इस घटना के विषय में सोचता रहा। समझौते पर हस्ताक्षर करने के बाद उस काल-रात्रि में शास्त्री जी के मन में न जाने किस प्रकार का वैचारिक द्वन्द्व हुआ होगा ? शांति-प्रयत्नों की सफलता पर खुशी हुई होगी—शायद यह शंका भी उठी होगी कि भारत के विभिन्न वर्गों की उस निर्णय पर कैसी प्रतिक्रियाएँ हों, अथवा कई दिनों के कठोर मानसिक श्रम और उत्तेजना के बाद उन्हें गहरी क्लांति का अनुभव हुआ होगा। इस विचित्र नाटक के सूत्रधार श्री कोसीगन के मन में किस प्रकार की भावनाएँ उठी होंगी ?—और, अयूब की प्रतिक्रिया क्या हुई होगी ? इन्हीं कल्पनाओं में लीन मैं सो गया और दूसरे दिन १५ अगस्त का प्रभात होते ही मैंने संकल्प किया कि जैसे दिल्ली में स्वातंत्र्य-दिवस का शुभारंभ गांधी-समाधि के दर्शन से होता है, वैसे ही ताशकंद में हम अपने राष्ट्रीय पर्व का प्रारंभ शास्त्री जी के निर्वाण-भवन की परिक्रमा से करेंगे। अतः तैयार होने के बाद तुरंत ही लगभग दस बजे मैं और मेरे दोनों साथी पैदल ही उधर चल दिये। यह भवन हमारे होटल से कोई दो फ़र्लांग की दूरी पर उसी बाग़ के एक कोने में था। यह बाग़ और बंगला मूलतः एक जनरल की सम्पत्ति थे पर बाद में राज्य के अधिकार में आ गये। वहाँ जाने का मार्ग अंगूरों से लदी बेलों से ढँका हुआ था—निकट में ही जल की नलिकाएँ बह रही थीं। ये बेलें सर्वथा सुरक्षित थीं—नर, वानर या पक्षी किसी का भी खतरा इन्हें नहीं था, अतः एक स्निग्ध शांति सर्वत्र व्याप्त थी। जल्दी ही हम अपने गंतव्य पर पहुँच गये। भवन के बाहर शास्त्री जी की अर्द्धमूर्ति थी—बाग़ के चौकीदार ने ताला खोला और हम लोग अंदर गये। मुख्य द्वार से आगे बढ़कर हमने गोष्ठी-कक्ष में प्रवेश किया जहाँ बैठकर शास्त्री जी सभी प्रकार के औपचारिक कार्य

करते थे और उसी से लगा हुआ था वह शयन-कक्ष, जहाँ उन्होंने प्राण-विसर्जन किया। उनकी वह शैया आज भी वैसी ही बनी हुई है—उस पर दो मालाकार पट्टियाँ रखी हुई हैं जिनमें से एक पर रूसी भाषा में श्रद्धांजलि अंकित है और दूसरी पर हिंदी में। यद्यपि सोवियत भूमि की प्रथा के अनुसार यह आवश्यक नहीं था, फिर भी मैंने भारतीय प्रथा के अनुसार नंगे पाँव ही उस कक्ष में प्रवेश किया और भाव-विभोर होकर हुतात्मा के प्रति अपने प्रणाम अर्पित किये। वहाँ के वातावरण में एक अपूर्व शान्ति थी जैसी किसी समाधि के आस-पास होती है। सरकारी होटल से लगा हुआ, विशाल उद्यान में स्थित, वह शानदार बंगला ताशकंद का राजकीय अतिथि-भवन था—पर सोवियत सरकार ने उसे अमन के शहीद का स्मारक बना दिया है : ताशकंद-समझौता और लालबहादुर शास्त्री जैसे एक-दूसरे के पर्याय बन गये हों और दोनों की स्मृतियाँ उस भवन में सुरक्षित हों।

ताशकंद के इस हृदय-तीर्थ का दर्शन करने के बाद फिर हम लोग वहाँ की साहित्यिक-शैक्षिक संस्थाएँ देखने गये। सबसे पहले हम प्राच्य विद्या-संस्थान पहुँचे। यह उज़बेक राज्य का प्रसिद्ध शोध-संस्थान है। वहाँ की निदेशिका ने हमारे स्वागत में एक छोटा-सा औपचारिक आयोजन किया और संस्थान का संक्षिप्त परिचय दिया। इसमें लगभग २५,००० जिल्दें हैं और एक-एक जिल्द में प्रायः चार-पाँच पुस्तकें हैं; इस प्रकार कुल मिलाकर वहाँ एक लाख पांडुलिपियों का संग्रह है। ये ग्रंथ अधिकतर मध्य-एशिया की प्राचीन भाषाओं—अरबी, तुर्की, उज़बेक आदि—में लिखे हुए हैं और उनमें रसायनशास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान, आयुर्वेद, गणित, इतिहास, राजनीति-दर्शन आदि पुरातन विद्याओं का विवेचन है। अनेक पाण्डुलिपियाँ आकार-प्रकार में काफ़ी बड़ी हैं।—संस्थान के अधिकारी ने हमें एक वृहद् ग्रंथ दिखाया जिसका विषय था चिकित्साशास्त्र; इसमें यूनानी चिकित्सा-पद्धति के विविध अंगों का विस्तार से विवेचन था। विशेषज्ञों ने अत्यंत परिश्रम से पाठालोचन

कर विस्तृत भूमिका आदि के साथ उसका संपादन किया था और संस्थान ने अत्यंत भव्य रूप में उसका प्रकाशन किया था। शोध के क्षेत्र में इस संस्थान का दर्जा विश्वविद्यालय के बराबर ही था और इसे अपनी उपाधियाँ देने का अधिकार था। ताशकंद विश्वविद्यालय के साथ भी इसका सहयोग-संबंध था : वहाँ के अनेक अनुसंधाता इसका नियमित रूप से उपयोग करते थे और यहाँ के विशेषज्ञ उनका विधिवत् निर्देशन भी करते थे। इसी प्रकार विश्वविद्यालय के विशेषज्ञ भी अनेक प्रकार से संस्थान के शोध-कार्य के साथ संबद्ध थे। शोध-कार्य के अंतर्गत ग्रंथों की सूचियाँ, अनुक्रमणिकाएँ, संदर्भ-तालिकाएँ आदि के निर्माण के साथ-साथ पाठानुसंधान, संपादन, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक व्याख्यान-विश्लेपण का सम्यक् प्रबंध है। इस तरह मध्य-एशिया के प्राचीन ज्ञान-भांडार का उद्घाटन करने में यह संस्थान महत्त्वपूर्ण योग दे रहा है। ताशकंद विश्वविद्यालय को हम केवल बाहर से ही देख सके क्योंकि जून, जुलाई, अगस्त में सोवियत-संघ के शिक्षा-संस्थान बंद रहते हैं। यह विश्वविद्यालय मध्य-एशिया का प्रायः सबसे बड़ा शिक्षा-केन्द्र है जिसमें ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में उच्चतम उपाधियों की व्यवस्था है। धातु-विज्ञान, कृषि-विज्ञान आदि का विकास वहाँ और भी अधिक है और विभिन्न देशों के शोध-छात्र उच्चतर अनुसंधान के लिए यहाँ आते हैं जिनमें छह भारतीय वैज्ञानिक भी इस समय वहाँ थे। विश्वविद्यालय के भारतीय विभाग में अन्य संबद्ध विषयों के साथ हिंदी-उर्दू की भी शिक्षा की व्यवस्था है जिसके अंतर्गत भाषा-शिक्षा के अतिरिक्त भाषा वैज्ञानिक अनुसंधान और उधर साहित्य-शिक्षा तथा साहित्य-शोध का भी उचित विधान है। इन केन्द्रों में प्राचीन भाषा एवं साहित्य की अपेक्षा समसामयिक भाषा और साहित्य पर अधिक बल रहता है। हिंदी और उर्दू के लिए भारतीय प्रोफ़ेसर नियुक्त होते हैं जिनका वेतन भारतीय मुद्रा में ४,००० रुपये के लगभग होता है। इसी तरह ताशकंद रेडियो में भी भारतीय भाषा

विभाग है। पालम से चलते समय उर्दू विभाग के एक सहयोगी ने ताशकंद रेडियो में नियुक्त एक भारतीय बंधु श्री हमीद सुल्तान का नाम-पता दे दिया था। अतः फ़ोन पर संपर्क स्थापित कर मैं अपराह्न में रेडियो स्टेशन पहुँचा जहाँ हमारी कुछ रूसी छात्राएँ हिंदी का कार्य करती हैं। मेरे पहुँचते ही वे आस-पास एकत्र हो गयीं—वे रूसी और उज़बेक भाषा से अनुवाद कर हिंदी में बुलेटिन व तरह-तरह के अन्य कार्यक्रम तैयार करती हैं। उनमें से एक—सनअत, जो हमारे विश्व-विद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर चुकी थीं, आजकल शोध-उपाधि के लिए कार्य कर रही हैं, ज़ारा और नूरिया ने वहीं रहकर हिंदी-उर्दू का ज्ञानार्जन किया है। इन सबको हिंदी का बहुत अच्छा अभ्यास है। नूरिया काफ़ी जल्दी-जल्दी हिंदी में पत्रक तैयार कर रही थी—मैंने सरसरी निगाह से देखा कि उनकी भाषा-शैली शुद्ध और स्वच्छ थी; लेख भी जमा हुआ और साफ़-सुथरा था। ज़ारा का भी हिंदी-ज्ञान अत्यंत पुष्ट और परिपक्व था—हिंदी और भारत के प्रति उनके मन में गहरा प्रेम था। इन तीनों कन्याओं ने भारतीय भाषा-साहित्य के साथ भारतीय संस्कार भी अर्जित कर लिए थे। गुरु के प्रति इनके व्यवहार में वैसी ही श्रद्धा की भावना थी जैसी कि इस देश की छात्राओं में मिलती है। तुरन्त ही उन्होंने चाय और कैंटीन में उपलब्ध निरामिष उपाहार-सामग्री—चॉकलेट—मँगाकर मेरे सामने रख दी और सनअत ने बड़े ही विनय-संकोच से कहा कि यहाँ और कुछ खाद्य-पदार्थ इस समय नहीं मिल सकते, दूध की चाय भी यहाँ नहीं है : हम आपका सत्कार कैसे करें? ज़ारा मेरे सामने ठीक वैसे ही खड़ी थी—श्रद्धा-भरित और सहमी-सी, जैसे हिंदी-विभाग में मेरी छात्राएँ बिना आँख उठाए खड़ी रहती हैं। उन्होंने अपने भारतीय गुरु-द्वय डॉ० भोलानाथ तिवारी और डॉ० क़मर रईस की कुशल-क्षेम पूछी और बड़े ही विनीत भाव से उनके प्रति नमस्कार व सलाम निवेदित किया। मैंने कहा, "तुम्हें देखकर मुझे लगता है कि तुमने भारत की भाषा ही

नहीं, संस्कृति को भी यथावत् ग्रहण कर लिया है—मुझे अपने विभाग की छात्राओं की याद आती है। तुम आज से मेरी मानस शिष्या हुई—जब कभी तुम्हें हिंदी-भाषा और साहित्य के विषय में किसी प्रकार की आवश्यकता या कठिनाई हो, मुझे निस्संकोच पत्र लिखना।"

ताशकंद के जन-जीवन में सर्वत्र सुख और स्वास्थ्य का प्रसार है। जिस प्रकार वहाँ के हरे-भरे वृक्ष और लताएँ गुलाबी रंग के फूलों और फलों से लदी रहती हैं, उसी प्रकार वहाँ की सुंदर इमारतें व बसें स्वस्थ और प्रसन्न स्त्री-पुरुषों व हँसते हुए बच्चों के गुलाबी चेहरों से जगमगाती रहती हैं। वहाँ के पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही काफ़ी हृष्ट-पुष्ट हैं—पुरुषों के क़द के साथ तो पुष्ट गात्रों की संगति ठीक बैठ जाती है, परंतु स्त्रियों की देह-यष्टि का अनुपात प्रायः भंग हो जाता है और यौवन की देहली पार करते ही उनके शरीर स्थूल प्रतीत होने लगते हैं। सौंदर्य का वहाँ प्राचुर्य है : वास्तव में मध्य-एशिया तो रूप और सौंदर्य का स्वर्ग है : परंतु उसका उचित संरक्षण नहीं हो पाता—एक प्रगतिशील राष्ट्र को, जो नर-नारियों के समवेत परिश्रम द्वारा जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए कृत-संकल्प हो, कदाचित् इस ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं है। सौंदर्य की दृष्टि से वहाँ सुवर्ण-काल है बाल्यावस्था, जबकि बालक या बालिका के व्यक्तित्व में रूपाकृति, वर्ण, छवि, अंग-संस्थान आदि सभी का सुंदर सामंजस्य रहता है; किशोर-काल और यौवन के मध्याह्न तक यह आकर्षण बना रहता है—परंतु प्रौढ़ि में प्रवेश करते ही आकर्षक मुखाकृति, रक्तिम गौर-वर्ण के यथावत् बने रहने पर भी, अंगों में फैलाव आ जाने से, सम भंग हो जाता है जिसे वहाँ की पाश्चात्य वेशभूषा संवृत नहीं कर पाती। अनायास ही, भारतीय वेशभूषा और उसके मोहक अनुपात में अभिव्यक्त वर्तुल अंगों की वह समंजस रूपरेखा मेरी कल्पना में झूल गयी।

इन लोगों का व्यवहार हार्दिकता से ओतप्रोत होता है—आगंतुकों के प्रति—विशेषकर भारतीयों के प्रति एक निश्छल सद्भाव इनके मन,

वाणी और कर्म में स्पष्टतः लक्षित होता है। भाषा का व्यवधान होने पर भी, बड़े ही खुले दिल से ये लोग ललक कर हमसे मिलते थे—भारतीय पद्धति से हाथ जोड़कर अभिवादन करते थे और चाहते थे कि हम कुछ समय इनके पास बैठें। मेरे मन में भी वहाँ के अंतरंग जीवन की झाँकी लेने की इच्छा बनी हुई थी। एक दिन रात को १०-३० बजे के आस-पास, भोजन के उपरांत, जब मैं और श्री चौहान अपने आवास के बाहर सड़क पर घूम रहे थे तो एक मकान के सामने खड़े हुए कुछ व्यक्तियों ने अभिवादन कर संकेतों से हमारा परिचय और कुशल-क्षेम पूछा। श्री चौहान ने कुछ अंगरेज़ी, कुछ रूसी और कुछ उर्दू के माध्यम से मेरे और अपने विषय में बताया और फिर उनके विषय में जानना चाहा। मुझसे यह कहकर कि यहाँ हर घर में एक इंजीनियर या डॉक्टर होता है, सामने खड़े पुरुष से प्रश्न किया : 'इंजीनियर ?' उन्होंने उत्तर में सिर हिलाया और कहा : 'टीचर'। उनके पास खड़ी महिला ने भी अपनी ओर इशारा करते हुए कहा : 'टीचर'। फिर हमने दूसरों की ओर देखा—दूसरे पुरुष ने कहा : 'डॉक्टर', और युवती ने भी हँसकर उत्तर दिया : 'डॉक्टर'। किशोरी बोली : 'कॉलिज स्टूडेंट'। बालिका से पूछने की ज़रूरत ही नहीं थी—मैंने उसकी ठोढ़ी पकड़कर कहा—'स्कूल स्टूडेंट'। अंत में हमने वृद्ध महिला की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि डाली। वे बोलीं : 'डॉक्टर'। इस प्रकार उस संपूर्ण परिवार का परिचय हमने प्राप्त कर लिया। वह एक संयुक्त परिवार था जिसकी प्रमुख थीं वे वृद्ध महिला-डॉक्टर; दोनों युवतियाँ उनकी पुत्रियाँ थीं और वे दोनों पुरुष इनके पति थे जो वहाँ की सामान्य प्रथा के अनुसार अपनी सास के साथ रहते थे; शेष दोनों कन्याएँ वृद्धा की अविवाहित पुत्रियाँ थीं। यह हमारा अनुमान-मात्र है, इस क्रम में थोड़ा-बहुत विपर्यय भी हो सकता है। परन्तु यह तो स्पष्ट ही था कि वह एक सुख-संपन्न संयुक्त परिवार था। उन्होंने हमसे सड़क से लगे अपने घर के भीतर चलने का आग्रह किया और हमने दूसरे दिन आने का वचन

देकर विदा ली। दूसरे दिन कुछ देर हो गयी थी, फिर भी उनके स्नेहानुरोध से प्रभावित होकर और साथ ही वहाँ के अंतरंग जीवन का परिचय प्राप्त करने की इच्छा से हम उधर गये तो देखा कि समस्त परिवार काफ़ी समय से हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। उनका घर अच्छा-बड़ा था जैसे कि हमारे देहात में संपन्न लोगों के घर होते हैं। सड़क की तरफ़ उनके रहने के कमरे थे, बीच में बड़ा सहन था और उससे लगा हुआ एक अच्छा-खासा घरेलू बाग़ था जिसमें अंगूर, तरबूज़, सर्दा की बेलें, आड़ू-आलूचा आदि के पेड़ और तरह-तरह की सब्ज़ी व फुलवाड़ी लगी हुई थी। सहन में एक मंडप-सा था जहाँ परिवार के सदस्य तथा मित्र-परिकर मिलकर बैठते थे। हमारे स्वागत के लिए उन्होंने वह मंडप बाक़ायदा सजा रखा था मानो किसी सांस्कृतिक कार्यक्रम की तैयारी हो। देर चूँकि बहुत हो चुकी थी, इसलिए मैं केवल दो-चार मिनट बैठकर ही लौटना चाहता था; पर वे लोग इतने स्नेह से आग्रह कर रहे थे कि जल्दी ही उठना असम्भव हो गया। पुरुष थोड़ी-बहुत अंगरेज़ी जानते थे, इधर चौहान साहब का भी रूसी भाषा में थोड़ा-बहुत दख़ल था और फिर अरबी-फ़ारसी के अनेक सामान्य शब्दों का ज्ञान हमको भी था, इसलिए परिवाचक के बिना भी विचार-विनिमय की कुछ-न-कुछ व्यवस्था हो गयी। बैठते ही मेज़बानों ने हमारे सामने फलों के ढेर लगाना शुरू कर दिया : बड़े उत्साह से वे लोग अपने बग़ीचे के अंगूर, आड़ू, सर्दा की फाँकें हमारे सामने रखने लगे। मैं पूरा भोजन कर चुका था, उसके बाद रात के ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे फल खाने का प्रश्न ही मेरे लिए नहीं था। पर वे लोग कभी बड़ा सा-तरबूज़ काटते, कभी सर्दा। श्री चौहान मुझसे बार-बार कह रहे थे कि आतिथ्य को अस्वीकार करना यहाँ बहुत बुरा समझा जाता है पर मेरे सामने स्वास्थ्य और बाह्य शिष्टाचार के बीच कोई विकल्प ही नहीं था। बातचीत प्रायः फल-फूलों के बारे में होती रही। अपने बारे में मैंने शुरू में ही कह दिया था : 'टीचर-प्रोफ़ेसर'। श्री चौहान के बारे में

जब प्रश्न किया गया तो मैंने उत्तर दिया : 'लीडर-लेखक'। अंगूरों की तारीफ़ करते ही बड़ी लड़की, जो कॉलिज की छात्रा थी, एक बड़ी सीढ़ी लगाकर मंडप के ऊपर लगी हुई बेल से कई ताज़ा गुच्छे तोड़ लायी। पास में लगी एक झाड़ी से पत्ते तोड़कर वृद्ध महिला ने कहा : 'हिना'। मैंने इशारे से समझाया कि भारत में भी इसका उपयोग पर्वों पर स्त्रियों के शृंगार के लिए होता है। वृद्धा ने सिर हिलाकर मेरी बात का अनुमोदन किया। भारत में हिना यानी मेंहदी का आयात शायद मुसलमानों के साथ ही हुआ था—हो सकता है कि मुस्लिम हरम से इस शृंगार-प्रसाधन का प्रचार बाद में हिंदू-घरानों में भी हो गया हो। इसी संदर्भ में ये वृद्ध महिला कह उठीं : 'सुरमा'—और उनकी मुद्रा से लगा जैसे वह उन्हें अत्यंत प्रिय हो। समय काफ़ी हो गया था; हम लोगों ने अत्यंत कृतज्ञ भाव से उनसे विदा माँगी—चलते-चलते काफ़ी फल उन्होंने लाद दिये और द्वार के बाहर हमें छोड़ने आये। उस एकांत अपरिचित परिवार के सभी सदस्यों के मुख पर कुछ ऐसे भाव थे मानो वे अपने अत्यंत घनिष्ठ संबंधियों को विदा कर रहे हों।—और यह भावना उन्हीं तक सीमित नहीं रही, कुछ क्षणों के लिए मैं भी भावलीन हो गया : मुझे वे दृश्य याद आ गये जब मेरी ननिहाल के सदस्य सड़क तक छोड़ने आया करते थे। चलते-चलते वृद्धा ने फिर कहा : 'सुरमा'। मुझे तुरंत ही ध्यान आ गया कि श्री चौहान के साथ जो कलाकार आये हैं उनके पास—ख़ासकर आपा यानी बेगम अख़्तर के पास सुरमा ज़रूर होगा, और हम लोग सुरमे का वचन देकर, किंतु एक विचित्र-सी स्नेह-विगलित मनःस्थिति लेकर, अपने आवास पर लौट आये।

यह प्रसंग उज़बेक जीवन और जीवन-दर्शन का प्रतीक है। प्रकृति के वरदानों से संपन्न, श्रम और सौहार्द का वह अकृत्रिम जीवन-प्रवाह नृत्य और गीत की लय में बहता रहता है—मानो प्रकृत-रमणीय कल्पनाओं से स्पंदित किसी मध्ययुगीन लोकनाट्य के संशोधित संस्करण का आधुनिक रंगमंच पर प्रदर्शन हो रहा हो।

ताशकंद से मास्को

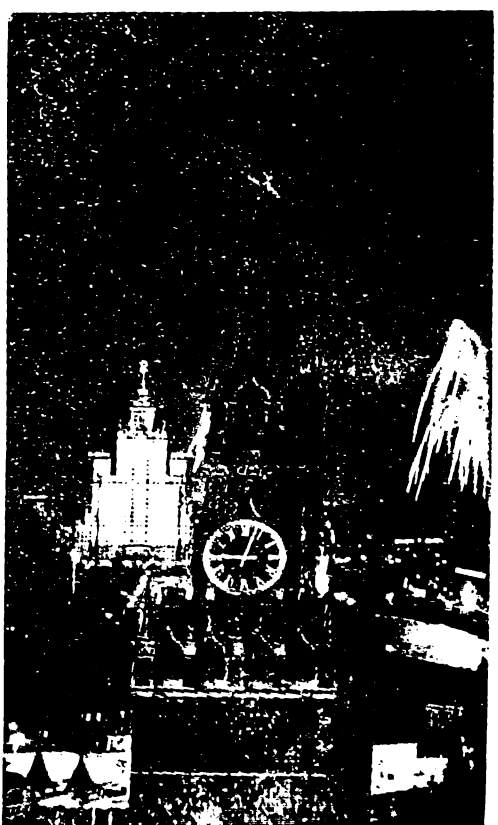

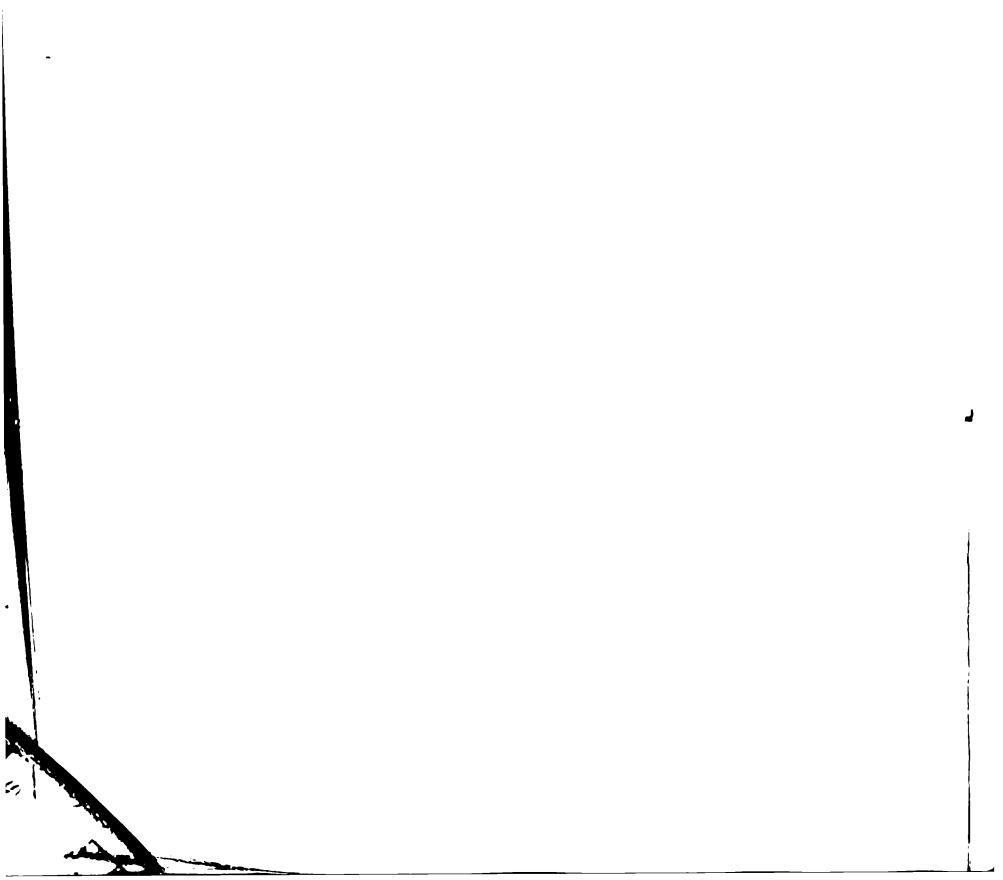

१६ अगस्त, १९६७ को पूर्वाह्न में ११-३० बजे हम इल्यूशिन विमान द्वारा ताशकंद से मास्को के लिए रवाना हुए। यह दूरी लगभग २,५०० मील की है और ४-३० घंटे में तय होती है। मास्को और ताशकंद के समय में २ घंटे का अंतर है—यानी मास्को का समय दो घंटे पीछे रहता है। इस प्रकार, हम लोग उसी दिन २-३० बजे के क़रीब अपराह्न में मास्को पहुँच गये। वायुयात्रा में सब प्रकार की सुख-सुविधा थी। जहाज़ मध्यम आकार का था जिसमें हम लोगों के लिए एक छोटा-सा केबिन आरक्षित था—गति उसकी वैसी ही सुख-सरल थी जैसी कि भारतीय कैरावेल की होती है। मध्य-एशिया के विस्तृत भू-भाग को पार करता हुआ वह विमान काफ़ी तेज़ी से उड़ रहा था—नीचे प्रायः वैसी ही भूमि थी जैसी कि ताशकंद-यात्रा के समय हमने देखी थी—रेगिस्तान थे और अराल सागर जैसे दो-एक छोटे-मोटे समुद्र भी। सूर्य के प्रखर प्रकाश में चमकती हुई बालुका और जलराशि में भेद करना कभी-कभी कठिन हो जाता था।

नियत समय पर वायुयान मास्को के राष्ट्रीय हवाई-अड्डे पर पहुँच गया। उतरते हुए विमान से दृश्यमान मास्को का वह दिगंत विस्तार और विराट् ऐश्वर्य अद्भुत था। उसे देखकर लगा जैसे हम नृत्य-नाट्य के प्रदेश से चलकर महाकाव्य के लोक में आ गये हों। वहाँ के विशाल वायुयानों को देखकर पुराणों की यह कल्पना साकार हो उठी कि आदिम युग में पर्वत भी उड़ा करते थे। अंतर्राष्ट्रीय हवाई-अड्डे का विस्तीर्ण प्रांगण दृष्टि को बाँध लेता था। उन भव्य भवनों के

विराट् आयामों में मानो मानव-मन की ऊर्जा राशिभूत हो गयी थी। ऐसे ही परिवेश से अभिभूत होकर कदाचित् कालिदास ने हिमालय के अनंत हिम-प्रसार की भगवान् शंकर के राशिभूत अट्टहास से उपमा दी थी। मास्को के इस विराट् परिदृश्य को देखकर यह लगता था जैसे मेरे अपने व्यक्तित्व का विस्तार हो रहा है—यह अनुभव कुछ ऐसा ही था जैसा कि हिमालय या समुद्र के अनंत प्रसार को देखकर होता है। केवल एक ही भेद था—प्रकृति के ऐश्वर्य के माध्यम से जहाँ परोक्ष सत्ता के विराट् रूप का आभास होता है, वहाँ इस नगर के वैभव को देखकर मानव के असीम गौरव का प्रभाव मन पर पड़ता था।

मास्को का रूसी नाम मस्कवा है। सोवियत-संघ का यह सबसे बड़ा शहर है और विश्व में इसका स्थान पाँचवाँ या छठा है। इसका नामकरण मस्कवा नदी के नाम पर हुआ है जो अब शहर के बीच में होकर बहती है। आबादी क़रीब पैंसठ लाख है और इतिहास लगभग आठ सौ वर्ष पुराना है। द्वितीय विश्वयुद्ध में सोवियत-संघ के लिए मास्को का संरक्षण न केवल राष्ट्रीय सम्मान का वरन् जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था और उसमें विजय प्राप्त करने के बाद मास्को नगर को 'आर्डर ऑफ़ लेनिन' से अलंकृत किया गया था।

विमान से उतरते ही मेरे मित्र, हिंदी-उर्दू के रूसी विद्वान्—डॉ० दीमशित्स तथा मैत्री-संघ के अन्य प्रतिनिधियों ने हमारा स्वागत किया। गत वर्ष जब डॉ० दीमशित्स दिल्ली विश्वविद्यालय में थे तभी वे मुझसे रूस आने का आग्रह किया करते थे, अतः मास्को में मुझे देख कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। बोले : "मैं कहता न था कि आपको इस वर्ष रूस अवश्य आना है।" जल्दी ही सामान लेकर हम लोग शहर की ओर चल दिये जो वहाँ से लगभग ४० किलोमीटर है। हमारे आवास की व्यवस्था 'यूक्राइना' में की गयी थी। 'यूक्राइना' मास्को का बड़ा ही आलीशान होटल है जिसमें लगभग २० मंज़िलें हैं। होटल की इमारत बाहर से बड़ी भव्य और भीतर से उतनी ही स्वच्छ है; नयी

होने पर भी उसमें रूस की मध्ययुगीन वास्तु-शैली का प्रयोग है। हम लोग पाँचवीं मंज़िल पर ठहरे थे—और मेरे कमरे का नम्बर था ५३०। लिफ़्ट पर चढ़ते-उतरते समय मैं हाथ का पंजा दिखाकर पाँचवीं मंज़िल का संकेत करता था और वहाँ पहुँचकर मेज़ पर लगे चित्र पर उँगली रखकर कमरा नं० ५३० की चाभी माँगता था। 'पाँच' और 'पाँच-सौ-तीस' के रूसी पर्याय भी मैंने याद कर लिये थे, पर अब मैं उन्हें भूल चुका हूँ। यहाँ का भोजन पाश्चात्य ढंग का ही था—ताशकंद की तरह यहाँ के उपाहार-गृह की मेज़ें फलों से लदी नहीं रहती थीं; शायद पनीर, दही और क्रीम भी उतनी बढ़िया नहीं थी—परंतु वैविध्य अधिक था—विशेषतः सामिष भोजन में। खनिज जल से यहाँ मुक्ति मिल गयी थी, परंतु प्रस्तोइ वादा—सादा पानी—यहाँ भी फ़रमाइश करने पर ही मिलता था। बीयर या फलों के रस का या शरबत का प्रयोग ही प्रायः होता है, सादा पानी यहाँ के लोग कम ही पीते हैं।

नियत समय पर, कार्यक्रम निश्चित करने के लिए, मैत्री-संघ के अधिकारियों के साथ हमारी वार्त्ता हुई, जिसमें संघ की प्रधान सचिव श्रीमती येरशोवा और उपप्रधान श्री इवानोव उपस्थित थे। शिष्ट-मंडल के प्रमुख डॉ० शाह ने आरंभ में ही यह सूचना दे दी थी कि मैं केवल २१ तारीख़ तक रूस में रह सकता हूँ—अतः कार्यक्रम का निश्चय करते समय इस बात का ध्यान रखा जाय। इस पर श्री इवानोव ने बड़े ही मधुर आग्रह के स्वर में परिवाचिका श्रीमती येरशोवा के माध्यम से मुझसे कहा: "हमें विश्वास है कि आपके बंधुजन आपका वियोग एक सप्ताह और भी सह लेंगे; रूस के लिए चार-पाँच दिन का समय बहुत कम है।" परंतु मैं तो कृतसंकल्प था, अतः मैंने अत्यंत विनीत किंतु दृढ़ शब्दावली में उनसे क्षमा-याचना की और निवेदन किया कि इसमें हानि मेरी ही है; किंतु मैं काफ़ी ज़रूरी काम बीच में छोड़कर आ गया हूँ, इसलिए जाना ही होगा। इस पर

डॉ० दीमशित्स बोले : "हमारी भाषा में एक कहावत है : काम कोई जानवर नहीं है जो जंगल में भाग जायेगा। —काम आपकी प्रतीक्षा कर लेगा।"—मुझे आना ही था—अतः यह निर्णय हुआ कि मैं लेनिनग्राड के कार्यक्रम में शामिल न होकर २१ अगस्त को वापस चला जाऊँगा।

१६ अगस्त की शाम को मैत्री-भवन में भारतीय स्वातंत्र्य-पर्व का आयोजन हुआ, जिसमें सोवियत-संघ के उप-प्रधानमंत्री तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारी, भारतीय दूतावास के सदस्य एवं कर्मचारी तथा अनेक प्रवासी भारतीय नर-नारी उपस्थित थे। इस उत्सव में भी पूर्ण व्यवस्था और सद्भाव का वातावरण था : आतिथेय वर्ग की ओर से प्रस्तुत स्वागत-कार्यक्रम में—उनके भाषणों और वक्तव्यों में भारत के प्रति हार्दिक सौहार्द की अभिव्यंजना थी; उनके वचन और व्यवहार से यह स्पष्ट था कि वे हृदय से भारत की सुख-शांति के अभिलाषी हैं।

अभिनंदन के उपरांत सांस्कृतिक कार्यक्रम की योजना की गयी जिसमें नृत्य-गीत के समारोह के साथ-साथ व्यायाम और कौतुक आदि का भी प्रदर्शन था। रूसी शैली का हंस-नृत्य अत्यंत भाव-पेशल प्रयोग था। उसके सर्वथा विपरीत था संगीत का कार्यक्रम जिसमें रूस का राष्ट्रीय पौरुष मुखरित था—गायक के स्वर और उसके सहचारी वाद्य-नाद का वैभव अपूर्व था, लगता था मानो पर्वत-कंदराओं में मेघों का मंदघोष प्रतिध्वनित हो रहा हो। मुझ जैसा व्यक्ति भी, जिसका मन भारतीय संगीत में भी अर्थ के सौंदर्य से आगे प्रायः नहीं बढ़ पाता, रूसी संगीत के इस नाद-गांभीर्य से अप्रभावित नहीं रह सका। व्यायाम और जादू के खेल पूरी सफ़ाई और फुर्ती के साथ पेश किये गये थे जो एक संपन्न जाति के स्वस्थ मन और स्वस्थ तन के प्रतीक थे। रूस में पुतलियों के खेल बाल-मनोरंजन के साधन-मात्र न रहकर अब एक विकसित कला का रूप धारण कर चुके हैं। मास्को में उनके लिए अलग मंच बना हुआ है जहाँ पुतलियों के द्वारा वाक़ायदा छोटे-छोटे

रूपकों का प्रदर्शन होता है। हमारी आतिथेया श्रीमती येरशोवा हमें एक व्यंग्य-नाट्य दिखाने ले गयीं जिसमें अमरीकी अर्थ-व्यवस्था पर कटाक्ष था। यह अपने-आप में पूर्ण एक छाया-नाटक था जो ५-६ पुतलियों के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। इन पुतलियों का संचालन नेपथ्य से कुछ प्रशिक्षित कलाकार कर रहे थे। पुतलियाँ प्रायः उतनी ही बड़ी थीं जितनी कि हमारे यहाँ होती हैं, परंतु परदे पर उनकी छाया सामान्य स्त्री-पुरुषों के आकार की ही जान पड़ती थी। वे उसी तरह उठती-बैठतीं, चलती-फिरतीं और व्यवहार करती थीं—उसी तरह अपने राग-द्वेष, शोक-क्रोध की अभिव्यक्ति करती थीं जिस तरह साधारण मनुष्य करते हैं। उनके संवाद टेप किये हुए थे—और छाया-प्रकाश का प्रयोग इतना व्यवस्थित था कि पुतलियों की सूक्ष्म मुद्राएँ भी बिलकुल साफ़ नज़र आती थीं। चित्र की माध्यम-भाषा रूसी थी, अतः हमारी मेज़बान श्रीमती येरशोवा बीच की कुर्सी पर बैठी हुई साथ-साथ अंगरेज़ी रूपांतर करती चलती थीं। श्रीमती येरशोवा का अंतर्वाह्य व्यक्तित्व अत्यंत मधुर था—उनकी रूपाकृति तथा वाणी-व्यवहार में एक सहज मार्दव था जिसका मन पर बड़ा सुखद प्रभाव पड़ता था। निरंतर परिवाचन करने में उन्हें थकान और ऊब भी हो सकती थी, पर वे अपने सहज माधुर्य में उसे अनायास ही छिपा लेती थीं। मैंने उनसे कहा कि आप केवल मूल बिंदुओं की ही व्याख्या करती चलें—जो शेष बचेगा उसे हम पुतलियों के हाव-भाव और व्यवहार से समझते रहेंगे। फिर भी, वे बराबर हमारी सहायता करती रहीं और व्यंग्य-कथा का अधिकांश भाग हमारी समझ में आ गया—केवल घटना-विधान का ही नहीं वरन् व्यंग्योक्तियों का आस्वादन भी हमारे लिए सुलभ हो गया।

मास्को की जनता नाटक-सिनेमा आदि की बड़ी शौकीन है। वहाँ न जाने कितने सिनेमाघर हैं जहाँ नगर की जनसंख्या का एक प्रतिशत भाग एक-साथ बैठकर मनोरंजन कर सकता है। मास्को

के सबसे प्रसिद्ध रंगमंच हैं बोलशोई थियेटर और आर्ट थियेटर जिसका नाम गोर्की आर्ट थियेटर हो गया है। १८ तारीख़ की शाम को हम तोल्सतोय के प्रसिद्ध उपन्यास 'युद्ध और शांति' पर आधृत फ़िल्म के युद्ध-दृश्य देखने गये। यह सिनेमाघर तो सामान्य ही था, पर इसका परदा बहुत बड़ा था—सामान्य परदे से कम-से-कम चार गुना आकार था उसका। यहाँ प्रायः ऐसी फ़िल्में दिखायी जाती हैं जिनमें दृश्य-विस्तार अधिक होता है। इस फ़िल्म में 'युद्ध और शांति' में वर्णित संग्राम के भयंकर दृश्यों को उनके पूरे विस्तार के साथ अत्यंत यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया था। युद्ध के अनेक चलचित्र मैंने देखे थे किन्तु ऐसा भीषण रूप प्रायः नहीं देखा था। सिनेमा का एक नया रूप हमने प्रदर्शनी में देखा जिसमें दर्शक बीच में खड़ा होकर चारों ओर परदों पर घूमते हुए दृश्यों का अंग बन जाता है—उसमें सामाजिक, वस्तुतः, दर्शक न रहकर पात्र बन जाता है। चित्रशालाएँ भी काफ़ी हैं—इनमें से दो का निरीक्षण हमने किया। इनमें युद्ध के चित्र, विशेषकर अक्तूबर की महान् क्रांति के चित्र प्रायः रहते हैं। इस चित्रकला में मार्दव और सूक्ष्म व्यंजना की अपेक्षा ऊर्जा एवं यथार्थ-दर्शन का प्राधान्य था : रंग गाढ़े और चटकीले थे—रेखाएँ पुष्ट और गहरी। रूस के शिक्षाविदों का विश्वास है कि प्रारम्भ से ही इस तरह के चित्र आदि देखने से जनता जीवन-संघर्ष के हर पहलू का सामना करने के लिए तैयार हो जाती है—बच्चों के दिल मज़बूत हो जाते हैं और युद्ध का भय उनके मन से निकल जाता है। इस प्रकार 'युद्ध के अभ्यास' की पहली शिक्षा वे यहीं से शुरू करते हैं।

मेरे लिए मैत्री-संघ की ओर से कुछ साहित्यिक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया था जिसमें मुख्य था—गोर्की-संग्रहालय और तोल्सतोय-संग्रहालय का निरीक्षण। गोर्की-संग्रहालय की स्थापना सन् १९६१ में की गयी थी, जबकि सोवियत सरकार के एक निर्णय के अनुसार मास्को के उस भवन को, जहाँ लेखक ने अपने जीवन के अन्तिम

पाँच वर्ष व्यतीत किये थे, गोर्की-स्मारक-संग्रहालय का रूप दे दिया गया था। यह भवन कैशेलोव मार्ग पर स्थित है और इसका निर्माण रूस के एक सम्पन्न व्यापारी की रुचि तथा आवश्यकताओं के अनुसार सन् १९०२–१९०६ में किया गया था। गोर्की १४ मई, १९३१ को इस मकान में आये थे और जून, १९३६ तक यहाँ रहे। वे स्वयं नीचे की मंज़िल में रहते थे और ऊपर की मंज़िल में रहते थे उनके पुत्र मैक्सिम अलीक्ज़ेविच, उनकी पत्नी व दो कन्याएँ—मर्फ़ा और डेरिया। नीचे की मंज़िल में चार कमरे हैं—अध्ययन-कक्ष, शयन-कक्ष, पुस्तकालय और उसी के साथ मिला हुआ आहार-कक्ष, जिसका उपयोग गोष्ठी आदि के लिए भी होता था। संग्रहालय में प्रवेश करने से पहले आपको ऊन के जूते पहनने पड़ते हैं—भारत में भी प्राचीन स्मारक अथवा अन्य पवित्र स्थान आदि में प्रवेश करने के लिए इस प्रकार की व्यवस्था है। इसके दो उद्देश्य हैं—स्मारक के प्रति सम्मान की अभिव्यक्ति और कक्ष की स्वच्छता की संरक्षा : हो सकता है कि इनमें दूसरा उद्देश्य ही प्रमुख हो, क्योंकि मेरा नंगे पाँव जाने का प्रस्ताव भी उन्होंने नहीं माना था; फिर भी दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धा की भावना भी उसमें निहित थी—यह निर्विवाद है। द्वार की दीर्घा को पार कर हमने गोर्की के अध्ययन-कक्ष में प्रवेश किया जहाँ बीच में एक लंबी-चौड़ी मेज़ थी, दीवार में लगी हुई अलमारियों में जापानी व चीनी कला की वस्तुएँ, पुराने सिक्के और तमग़े आदि सजाकर रखे हुए थे; मेज़ के पास एक बड़ा सोफ़ा और गद्दीदार कुर्सियाँ थीं, जहाँ वे प्रायः अपने अतिथियों से भेंट किया करते थे। यह मेज़ गोर्की के विशेष आदेश पर उनकी आवश्यकता के अनुसार बनायी गयी थी : इसकी ऊँचाई इसलिए कुछ अधिक रखी गयी थी जिससे कि गोर्की के क्षयग्रस्त फेफड़ों को आराम मिल सके; लंबाई-चौड़ाई इसलिए ज़्यादा थी कि गोर्की की तरह-तरह की अध्ययन व लेखन सामग्री को यथास्थान रखा जा सके। लेखन-सामग्री के अन्तर्गत दो-एक लकड़ी के होल्डर थे, कुछ काली व

कुछ लाल-नीली पेंसिलें थीं जिन्हें गोर्की स्वयं तराश कर रखते थे। काली पेंसिलें प्रायः नोट लिखने के काम में आती थीं और लाल-नीली पेंसिलों से गोर्की लेखों और पुस्तकों पर निशान लगाया करते थे। बीच में, लिखने के बड़े-बड़े रूलदार काग़ज़ तरतीब से रखे थे, जिनमें काफ़ी चौड़ा हाशिया था—इस हाशिये का उपयोग संशोधन करने के लिए होता था। पास में ही छोटी-छोटी चिटों का पैकेट था, जिन पर वे नये विचारों और कल्पनाओं को अंकित कर लिया करते थे। यद्यपि गोर्की की सख्त हिदायत थी कि इन्हें उपयोग के बाद फ़ौरन नष्ट कर दिया जाय और वे प्रायः स्वयं ही ऐसा कर दिया करते थे, फिर भी उनके पुत्र अलीक्ज़ेविच ने, जो एक प्रकार से उनके सचिव का भी काम करते थे, इनमें से कुछ टुकड़ों को बचाकर रख लिया था। आज रूस के अनेक आलोचक और शोधक उस महान् उपन्यासकार की सृजन-प्रक्रिया को समझने में इनका सम्यक् उपयोग करते हैं। गोर्की प्रातः ६ बजे यहाँ आकर अपना लेखन-कार्य आरम्भ कर देते थे और २ बजे उठते थे—पूर्वाह्न में वे नियमित रूप से साहित्य-रचना ही करते थे। जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने काफ़ी श्रम किया था, कई नाटक लिखे थे और अंतिम महाकाव्यिक उपन्यास 'क्लिम' की रचना की थी जो पूर्ण नहीं हो पायी। अपराह्न में वे नव-लेखकों की पांडुलिपियों का संशोधन, व्यक्तिगत एवं साहित्यिक पत्राचार और पत्र-पत्रिकाओं का संपादन आदि करते थे।

अध्ययन-कक्ष से कुछ हटकर गोर्की का प्रसिद्ध पुस्तकालय है जिसका बहुविध महत्त्व है। इसमें १०,००० ग्रंथ हैं—देशभर के निजी पुस्तकालयों में तोल्सतोय के पुस्तकालय के बाद इसी का स्थान है। यहाँ अनेक दुर्लभ ग्रंथ, उनके प्रथम संस्करण और अनेक अमर ग्रंथों की उपहार-प्रतियाँ उपलब्ध हैं जो मूल लेखकों ने अपने हस्ताक्षर के साथ गोर्की को अर्पित की थीं। दस हज़ार में से लगभग दो हज़ार ग्रंथों पर गोर्की के हाथ के निशान हैं। गिबन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'रोमन साम्राज्य की अवनति

और अंत' का उन्होंने पूर्ण अवधान के साथ अध्ययन किया था। पुश्किन, गोगोल, तोल्सतोय, चेख़व आदि उनके प्रिय लेखक थे—इनमें से कुछ-एक को, जैसे चेख़व के कहानी-संग्रह को वे प्रायः अपने साथ रखते थे। तार्ले की रचना 'नेपोलियन' शायद वह अंतिम ग्रंथ था जो उन्होंने मृत्यु से कुछ ही पहले पढ़ा था। विश्व के एक महान् कलाकार की सर्जक मेधा और उसका परिपोष करने वाले अनेक प्रभाव-सूत्रों का अध्ययन करने के लिए इन ग्रंथों का सूक्ष्म-गहन निरीक्षण अनिवार्य है। इसीलिए प्रस्तुत पुस्तकालय गोर्की-साहित्य के अध्येताओं और विशेषज्ञों के लिए एक प्रकार का अध्ययन-तीर्थ है। पुस्तकालय से संलग्न खाने का कमरा है जिसका आयाम काफ़ी बड़ा है। इसके मध्य भाग में एक बड़ी मेज़ पड़ी है जहाँ गोर्की और उनके परिजन अपने अतिथियों का स्वागत-सत्कार किया करते थे—रोम्यां रोलां, जॉर्ज बर्नार्ड शॉ आदि का स्वागत गोर्की ने इसी कक्ष में किया था। यहीं अक्तूबर, १९३२ में सोवियत-संघ के लेखकों का बृहत् सम्मेलन हुआ था। उसके अतिरिक्त समाजवादी यथार्थ-दर्शन पर अनेक महत्त्वपूर्ण गोष्ठियाँ भी यहाँ समय-समय पर हुआ करती थीं। इस दृष्टि से यह कक्ष भी एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान है।

संग्रहालय का मर्म-स्थल है गोर्की का शयन-कक्ष। इसमें गोर्की की शैया और उनके वस्त्र आज भी संरक्षित हैं। गोर्की को लगभग ग्यारह बजे पढ़ते-पढ़ते सोने की आदत थी। शैया के बराबर एक सोफ़ा पड़ा है और उसके सिरहाने छोटी-सी मेज़ है जिस पर लेखक की पौत्री मर्फ़ा की तस्वीर रखी हुई है। शयन-कक्ष में इस तस्वीर को देखकर अनायास ही मेरे मन में गोर्की के विषय में अनेक कोमल कल्पनाएँ जग गयीं। इतने ही में हमारी निर्देशिका ने मेज़ का दराज़ खोला और एक अन्य चित्र निकालकर मेरे सामने रख दिया। यह चित्र गोर्की के एकमात्र पुत्र, मर्फ़ा के पिता—अलीक्ज़ेविच का था जो गोर्की की मृत्यु से दो-एक वर्ष पहले दिवंगत हो गये थे। इसे देखकर

मेरी वे कोमल कल्पनाएँ आँसुओं से आर्द्र हो गयीं। रुग्ण गोर्की में अलीक्ज़ेविच के चित्र के आघात को सीधा झेलने की ताक़त नहीं रह गयी थी—इसलिए उसे वे दराज़ के भीतर रखते थे और मर्फ़ा के चित्र की आड़ लेकर इस आघात को सहने का प्रयत्न करते थे। मैं सोचने लगा कि लाल क्रांति का यह साहित्यिक सेनानी क्या वास्तव में इतना कमज़ोर था ? परन्तु मेरे मन ने तुरंत ही उत्तर दिया कि यह समाजवादी यथार्थ-दर्शन के उद्गाता का सार्वजनिक व्याख्यान-कक्ष नहीं है—'माँ' के रचयिता का एकांत शयन-कक्ष है। गोर्की-संग्रहालय के भीतर मैं जिज्ञासा और संभ्रम के भाव लेकर गया था, पर करुणा से भीगा मन लेकर बाहर आया।

तोल्सतोय का मुख्य आवास और संग्रहालय यास्नाया पोलियाना में है जो मास्को से लगभग २०० किलोमीटर दूर है। मेरी वहाँ जाने की प्रबल इच्छा थी; परन्तु मेरे साथी पूरा एक दिन उस पर व्यय करने को तैयार नहीं थे। अतः मुझे मास्को-स्थित तोल्सतोय-संग्रहालय से ही संतोष करना पड़ा। यह तोल्सतोय का शीतकालीन आवास था जो एक विशाल उद्यान के मध्य में स्थित है। यहाँ, एक ओर तोल्सतोय के कुल की सामन्तीय गरिमा और दूसरी ओर उनके अपने व्यक्तिगत जीवन की सादगी का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। इस भवन का आहार-कक्ष काफ़ी बड़ा था और साज-सामान क़ीमती था। परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिए अलग-अलग कमरे थे—एक कमरा उनके सबसे छोटे बच्चे और उसकी अभिभाविका का था जिसमें बच्चे के खेलने व पढ़ने-लिखने की चीज़ें आज भी वैसी ही रखी थीं। ऊपर के एक कमरे में शिकार का सामान था—कई तरह की बंदूक़ें और रीछों की खालें थीं : इनमें वह रीछ भी था जिससे तोल्सतोय की प्राण-रक्षा करने के लिए काफ़ी संघर्ष करना पड़ा था। शांति का यह पुजारी खूँखार शिकारी भी था—यह जानकर मुझे थोड़ा कुतूहल हुआ। भवन के मध्य-भाग में लेखक और उनकी पत्नी का शयन-कक्ष था जो

राजसी सज्जा से सम्पन्न था : तोल्सतोय की सादगी के स्थान पर यहाँ उनकी पत्नी की राजसी प्रकृति का प्रभाव अधिक था। तोल्सतोय की पत्नी का स्वभाव कुछ आक्रामक था—उन्हें अपने पति की साधु वृत्ति और दानशीलता के प्रति अधिक सहानुभूति नहीं थी और वे प्राय: उनकी क्रियाविधि का विरोध किया करती थीं। परन्तु दूसरी ओर अपने पति की रचनाओं की पाण्डुलिपि स्वयं ही तैयार करने का भी उनका अत्यन्त प्रबल आग्रह रहता था—'युद्ध और शान्ति' की पाण्डुलिपि का तोल्सतोय ने तीन-चार बार संशोधन किया था और हर बार काउन्टैस ने अपने हाथ से ही उसकी पाण्डुलिपि तैयार की थी। नारी की मनोवृत्ति का यह विरोधाभास रोचक होते हुए भी विचित्र नहीं था : उस सामन्तीय महिला का मन एक ओर पति की साधु-प्रवृत्तियों के विरुद्ध जितना विद्रोह करता था, दूसरी ओर उनके साहित्यिक गौरव का सहभोग करने के लिए उतना ही व्यग्र भी रहता था। फिर भी, मेरे मुँह से निकल गया : बेचारे तोल्सतोय के घर में ही युद्ध और शान्ति का उपन्यास चल रहा था।

साहित्यिक कार्यक्रम के अन्तर्गत, मेरे लिए विशेष रूप से, प्रगति-प्रकाशन के अनुवाद-विभाग, एशिया-प्रतिष्ठान के हिन्दी-कक्ष तथा लेखक-भवन के निरीक्षण की व्यवस्था की गयी थी। प्रगति-प्रकाशन पर भारतीय साहित्य के रूसी अनुवाद और प्रकाशन का दायित्व है। वहाँ हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, बंगला, मराठी, पंजाबी तथा दाक्षिणात्य भाषाओं के अनेक लेखक नियमित रूप से अनुवाद-कार्य करते हैं : इन सभी की नियुक्ति पूर्णकालिक है, परन्तु निश्चित वृत्ति के अतिरिक्त भी प्रत्येक लेखक अपनी कार्य-क्षमता के अनुसार धनार्जन कर सकता है। यह अनुवाद-कार्य सामान्यत: अंगरेज़ी भाषा के माध्यम से होता है; परंतु मूल रूसी ग्रंथ का उपयोग भी नियमित रूप से किया जाता है। अनुवाद के प्रारूप का पुनरीक्षण और संशोधन, विशेषज्ञ द्वारा, मूल ग्रंथ के आधार पर ही होता है। इस प्रकार एक वर्ष में प्राय: २०–२५

ग्रंथों का अनुवाद हिंदी में पूरा हो जाता है। प्रकाशन-गृह में हिंदी, उर्दू व पंजाबी के कई लेखकों से भेंट हुई—हिंदी में सुरेन्द्र बालूपुरी के अतिरिक्त मधुप, नरेश वेदी आदि कई तरुण लेखक वहाँ काम करते हैं। भारतीय लेखकों का वहाँ एक छोटा-सा परिवार बन गया है जो एक-दूसरे के सुख-दुःख में भाग लेते हैं, होटल में अपने सहयोगी की वर्षगाँठ मनाते हैं —घर पर अपने बच्चों की, और रोग-शोक में जी-जान से परस्पर सेवा-सहायता करते हैं। इससे भी ख़ुशी की बात यह है कि रूस के अनेक सहकर्मी लेखक भी इस परिवार के अंग बन गये हैं। रूस में अनुवाद-कार्य बड़े पैमाने पर बराबर होता रहता है जिससे कि विश्व का समस्त ज्ञान-विज्ञान देश की जनता को निर्बाध रूप से उपलब्ध होता रहे। और, इसके लिए सोवियत सरकार ने अपने को व दूसरों को कॉपीराइट के बंधन से मुक्त कर लिया है : वे किसी की भी पुस्तक अनूदित और प्रकाशित कर सकते हैं, और कोई भी देश उनके ग्रंथों का अनुवाद करने के लिए स्वतन्त्र है। विदेशी लेखक को रूस में जाने पर रूसी मुद्रा में रॉयल्टी मिल सकती है, पर इसका निर्णय वहाँ की प्रकाशन-संस्था ही करती है। सामान्यतः वे लोग किसी को उसके श्रम-लाभ से वंचित नहीं करते, फिर भी विदेश का लेखक इसके लिए दावा नहीं कर सकता। मेरे भी एक संपादित ग्रंथ 'भारतीय वाङ्मय' का रूसी भाषा में अनुवाद हो चुका है। प्रगति-प्रकाशन में इसका हिसाब है। मैत्री-संघ की सिफ़ारिश पर संस्था ने मुझे रॉयल्टी देना तो फ़ौरन ही मंज़ूर कर लिया, पर छुट्टियों के कारण मेरे मास्को-प्रवास की अवधि में उसका हिसाब नहीं हो सका। रूस में संपादित ग्रंथ की रॉयल्टी नियमतः संपादक को नहीं वरन् संकलित रचनाओं के लेखकों को ही दी जाती है—और इसमें संपादक बीच में नहीं आता; लेखक अपने लेख का पारिश्रमिक सीधा ही ले सकता है। इस नियम से मुझे केवल उन्हीं अंशों की रॉयल्टी पाने का अधिकार है जो मेरी अपनी रचनाएँ हैं। यह रॉयल्टी सामान्यतः रूसी मुद्रा में ही मिलती है—परंतु विशेष परिस्थिति में कभी-कभी इसका अपवाद भी हो सकता है।

दूसरे दिन डॉ० दीमशित्स के साथ मैं एशिया-प्रतिष्ठान में गया। यहाँ एशिया के देशों के साहित्य, इतिहास आदि के अध्ययन तथा शोध का प्रबंध है। भारतीय विभाग में वहाँ के हिंदी-अधिकारी ने मेरा स्वागत किया और हिंदी-साहित्य-विषयक अनुसंधान कार्य का परिचय दिया। प्रतिष्ठान से प्रेमचंद पर एक उपयोगी निदेशिका का प्रकाशन किया गया है और आजकल वे लोग अपने वृहद् साहित्य-कोश के लिए हिंदी के कृतिकारों का परिचय तैयार कर रहे हैं। निदेशिका रूसी और हिंदी दोनों भाषाओं में है—संपादक ने इसे अधिक-से-अधिक पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है : एक खंड में प्रेमचन्द के संपूर्ण वाङ्मय, उनकी प्रत्येक रचना—उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध—के रचनाकाल, प्रकाशन-सूत्र, संस्करण आदि का विवरण एकत्र है और दूसरे में उनके साहित्य से संबद्ध संपूर्ण वाङ्मय का—अर्थात् उनके संबंध में प्रकाशित लेखों व पुस्तकों का प्रामाणिक विवरण है। इसके बाद उन रूसी बंधु ने, जो स्वर्गीय महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अत्यंत श्रद्धावान् शिष्य हैं, मुझे हिंदी-साहित्यकारों की नामावलि दिखायी जिनका परिचय वे साहित्य-कोश में दे रहे हैं। यह सूची काफ़ी अपूर्ण और अव्यवस्थित थी; प्राचीन कवियों में अनेक प्रसिद्ध नाम नहीं थे; नवीन लेखकों के चयन में भी कोई स्थिर क्रम नहीं था। न नंददास थे और न रामचंद्र शुक्ल। एक नाम था चौबे बिहारीलाल : मैंने झुँझलाकर पूछा, "ये सज्जन क्या मास्को में ही काम करते हैं ?" वे बोले, "नहीं, ये तो बहुत बड़े कवि हैं।" तुरंत ही मुझे ध्यान आया कि ये रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी हैं, जिनको बाक़ायदा 'सरनेम' के साथ आधुनिक कवियों के साथ खड़ा देखकर, पहचानने में मुझे कुछ देर लगी। आगे पं० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का नाम कटा देखकर मैंने फिर प्रश्न किया कि इनका नाम क्यों काट दिया गया है। वे बेचारे सरल स्वभाव से कहने लगे, "हमने यह नामावलि एक हिंदी-विद्वान् को दिखायी थी, जिन्होंने द्विवेदी जी का नाम काटकर एक अन्य आलोचक का नाम

जोड़ दिया।" मुझे यह सुनकर थोड़ा क्लेश हुआ और मैं सोचने लगा कि ये बेचारे कितनी मेहनत कर रहे हैं हमारे साहित्य पर, और हम उन्हें किस प्रकार सत्परामर्श देकर विदेश में हिंदी और हिंदुस्तान की सेवा करते हैं।

मास्को में मैंने रूस के साहित्यिकों से मिलने की इच्छा व्यक्त की थी। तदनुसार मैत्री-संघ की ओर से, लेखक-संघ के भारतीय विभाग में साहित्यकारों की एक छोटी-सी मिलन-गोष्ठी की व्यवस्था की गयी। एक तो समय का अत्यंत अभाव था, दूसरे उन दिनों छुट्टियां थीं, फिर भी कई-एक कवि और लेखक वहाँ उपस्थित थे। इनमें दो कवि थे : श्री ल्यूकोनिन और सुश्री वेला। ल्यूकोनिन आयु में प्रौढ़, किंतु स्वभाव से बड़े मस्त जीव हैं—गत वर्ष वे भारत आये थे और केरल में कुछ दिन रहे थे। महाकवि शंकर कुरुप से काफ़ी प्रभावित थे और बड़े ही सम्मान के साथ उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की चर्चा करते थे। नौका-विहार के इतने शौक़ीन थे कि केरल से मास्को तक नाव बाँधने का एक बड़ा रस्सा लादकर ले गये थे। वेला अभी युवती हैं; उनके परिचय के समय बताया गया कि वे प्रगीत लिखती हैं और कवि-गोष्ठियों में उनका काव्य-पाठ सुनकर श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं। यह जानकर कि मेरा विषय आलोचना है, एक आलोचक को भी विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था। इनका नाम है ग्युसेव। ये अभी तरुण हैं परंतु आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में इनकी प्रतिभा का अच्छा प्रभाव है। आतिथ्य और परिचय का दायित्व श्रीमती मीरा सलगानिक ने ले रखा था जो इस विभाग की सचिव हैं। हिंदी-साहित्य का इन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया है और आधुनिक साहित्य में इनकी गहन रुचि है। इन महिला ने मुझसे पूछा कि क्या हिंदी में भी क्षुब्ध और क्षुधित पीढ़ी काफ़ी सक्रिय है। मैंने उत्तर दिया कि यह रोग थोड़ा-बहुत हर जगह है, पर हम लोग उधर ध्यान नहीं देते। हमारे ये युवा मित्र भी अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से

ही इस प्रकार के नग्न प्रदर्शन करते हैं। धीरे-धीरे जब इनकी मनीषा स्थिर होने लगती है और प्रतिभा को स्वीकृति मिलने लगती है, तो बर्बर वृत्तियाँ संयत हो जाती हैं और समाज के सामान्य नियम इनके लिए इतने असह्य नहीं रह जाते। मेरे इस वक्तव्य का ल्यूकोनिन ने स्वागत किया और काव्य में भावना की गरिमा तथा संस्कार पर बल दिया। परंतु तरुण आलोचक ने रूसी भाषा में कहा कि मैं नयी कविता के प्रति कुछ अधिक कठोर हूँ। मैंने उत्तर दिया कि मैं कठोर हो सकता हूँ, पर निर्दय नहीं हूँ। उन लोगों की बात सुनकर पहले तो मैंने समझा कि वे व्यंग्य कर रहे हैं, फिर यह लगा कि शायद रूस की तरुण पीढ़ी को भी धीरे-धीरे पाश्चात्य साहित्य में व्याप्त वैयक्तिक अतिवाद के प्रति सहानुभूति होती जा रही है—जो वस्तुतः एक आश्चर्य का विषय था। परंतु बाद में कुछ जानकार लोगों ने बताया कि वे लोग इन क्षुब्ध, भूखे और दिगंबर युवकों की गणना शोषित वर्ग के अंतर्गत करते हैं और यह समझते हैं कि इनका सारा आक्रोश शोषण के विरुद्ध प्रतिलक्षित है : जो लोग अपने से या समाज से नाराज़ होकर सामूहिक अथवा वैयक्तिक आत्महत्या की कामना करते हैं, या स्वस्थ जन-समुदाय को विक्षुब्ध करने के लिए दिगंबर होने का स्वाँग भरते हैं, उनके लिए आज भी रूस के न्यायिक एवं सामाजिक विधान में उचित व्यवस्था है।

मेरे लिए रूस-यात्रा का सबसे प्रमुख आकर्षण था मास्को विश्व-विद्यालय। इसकी स्थापना सन् १७५५ में श्री लोमोनोसोव ने की थी। संसार के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों में मास्को विश्वविद्यालय का स्थान अन्यतम है। विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर स्थित लोमोनोसोव की मूर्ति मानो इसके शैक्षिक गौरव की प्रतीक है। यह इमारत २४ मंज़िल की है, इसमें १४ विभाग व अनेक उपविभाग और १,७०० प्रयोगशालाएँ हैं, जो ज्ञान-विज्ञान के नवीनतम प्रसाधनों से संपन्न हैं। अधिकांश विभाग विज्ञान तथा उद्योग-विज्ञान से संबद्ध हैं—मानविकी विद्याओं में केवल

प्राच्यभाषा और भाषा-विज्ञान के ही केन्द्र यहाँ हैं, शेष नगर के मध्य में स्थित विश्वविद्यालय के प्राचीन भवनों में आवासित हैं। सामान्य विभागों के अतिरिक्त यहाँ चार शोध-संस्थान, तीन संग्रहालय, चार वेधशालाएँ तथा कुछ अन्य केन्द्र भी हैं जो ज्ञान-विज्ञान की बहु-विध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। विद्यार्थियों की संख्या लगभग तीस हज़ार है जिनमें से प्रायः आधे विद्यार्थी पत्राचार तथा सांध्य-कालीन पाठ्यक्रमों से संबद्ध हैं। प्राध्यापक चार हज़ार के लगभग हैं—अर्थात् सात-आठ विद्यार्थियों के लिए एक अध्यापक की व्यवस्था है। अध्यापक का वेतन-मान काफ़ी अच्छा है—प्रोफ़ेसर को पाँच-छह हज़ार रुपया मासिक मिलता है। ग्रंथालय में लगभग पचपन लाख पुस्तकें हैं। छात्रावास अत्यंत स्वच्छ एवं सुरुचिपूर्ण हैं—स्नातकोत्तर छात्रों के लिए अलग-अलग कमरों की व्यवस्था है; छात्राओं के लिए अलग आवास हैं, परंतु दंपति साथ-साथ रह सकते हैं। विश्वविद्यालय बन्द था, अतः वहाँ के आचार्यों से भेंट करने का अवसर तो हमें नहीं मिला, परंतु उसके बाह्य वैभव का प्रभाव भी कम गहरा नहीं था। उसके विराट् भवन और अपार साधन-संपदा को देखकर विश्वविद्यालय के शब्दार्थ की—उसके सार्वभौम रूप की—कल्पना मानो साकार हो गयी।

मास्को विश्वविद्यालय से काफ़ी दूर शहर के भीतर पैट्रिस लुमुम्बा विश्वविद्यालय है जिसका छोटा नाम मैत्री विश्वविद्यालय—फ़्रैंडशिप यूनिवर्सिटी है। यहाँ भौतिक-विज्ञान, गणित, कृषि-विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र, अभियंत्र-विज्ञान के अतिरिक्त विधि, इतिहास और रूसी भाषा एवं साहित्य के उच्चतर अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। इसका स्वरूप राष्ट्रीय की अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीय ही अधिक है, अतः विदेशी छात्रों की यहाँ बहुसंख्या है। इसकी स्थापना सन् १९६० में हुई थी—इसके मूल में लेनिन का यह सिद्धान्त था कि ज्ञान-विज्ञान तथा प्रशिक्षण आदि के क्षेत्र में विश्वभर के विकासशील देशों की निःस्वार्थ भाव से सहायता

करना सोवियत नीति का अंग है। सन् १९६१ में कोंगो के शहीद प्रधानमंत्री पैट्रिस लुमुम्बा के नाम पर नामकरण कर इस विश्वविद्यालय के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानो और भी संपुष्ट कर दिया गया।

सोवियत-संघ का शिक्ष-तंत्र सर्वथा व्यावहारिक है, अपने देश की अनेक समस्याओं के समाधान में भारतीय शिक्षाविद् के लिए उसका ज्ञान अत्यंत उपयोगी हो सकता है। वहाँ स्कूल की शिक्षा की अवधि दस वर्ष है और वह अनिवार्य है—इसके बाद अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार छात्र व्यावसायिक अथवा औद्योगिक शिक्षण प्राप्त कर सकता है या उच्चतर अध्ययन में प्रवृत्त हो सकता है। उच्चतर शिक्षा की अवधि पाँच वर्ष है, जब छात्र कतिपय संबद्ध विषयों का आधारिक ज्ञान प्राप्त करता है। शिक्षा के अंतिम सोपान पर पहुँचकर विषय-विशेष का ज्ञानार्जन अपेक्षित होता है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद शोध-छात्र 'कैंडीडेट' की उपाधि का अधिकारी हो जाता है जो हमारे विश्वविद्यालयों की पी-एच० डी० के समकक्ष है। इसके आगे भी गंभीर अनुसंधान तथा उसके फलस्वरूप उच्चतम उपाधि डी० लिट्० की व्यवस्था है जो प्रायः प्रोफ़ेसर का पद अथवा वेतनमान प्राप्त करने के लिए आवश्यक होती है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सर्वोच्च अलंकार है अकादमीशियन की पदवी, जो विशिष्ट उपलब्धियों के उपरांत ही प्राप्त की जा सकती है। अन्य देशों की भाँति सोवियत-संघ में मानविकी विद्याओं की अपेक्षा भौतिक-विज्ञान और समाज-विज्ञान पर अधिक बल है। शिक्षा का यहाँ व्यावहारिक जीवन के साथ प्रत्यक्ष और घनिष्ठ संबंध है : इसीलिए भौतिक जीवन के विकास में सहायक विषयों पर स्वभावतः अधिक ध्यान रहता है और ज्ञान के औद्योगिक पक्ष को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्राचीन भारत में विद्या और धर्म का जिस प्रकार अविच्छिन्न संबंध था; इसी प्रकार सोवियत-संघ में विद्या और व्यवहार में अनिवार्य संबंध है। इसीलिए उद्योग-विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा उनके सहायक विषयों का जिस

स्तर पर विकास हो रहा है, उस स्तर पर दर्शन और सौंदर्यशास्त्र आदि का नहीं हो रहा। साहित्य का उच्चतर अध्ययन और अनुसंधान प्रायः शोध-प्रतिष्ठानों में ही होता है।

सोवियत-संघ में जिस प्रभावी रीति से शिक्षा के माध्यम की समस्या का समाधान किया गया है, उससे हम बहुत-कुछ लाभ उठा सकते हैं। वहाँ पंद्रह राज्य हैं और उतनी ही या इससे कुछ अधिक भाषाएँ हैं, जिनमें से अनेक तो अभी अर्धविकसित अवस्था में ही हैं। फिर भी कोई बाधा नहीं है : द्वि-भाषा सूत्र के आधार पर संपूर्ण गणराज्य के लिए, बड़ी आसानी से, समस्या को हल कर लिया गया है। स्कूल के स्तर पर प्रत्येक छात्र अपनी राज्य-भाषा के साथ गणराज्य की संपर्क भाषा रूसी का भी अध्ययन करता है; इस प्रकार इन दो भाषाओं के आधार पर वह संघ के किसी भी भाग में रहकर काम कर सकता है। उच्चतर शिक्षा के लिए उसे दोनों में से किसी एक वैकल्पिक माध्यम का निर्वाचन करने का अधिकार है। प्रत्येक संस्थान में इसके लिए समुचित व्यवस्था है और यह सुविधा शोध के उच्चतम स्तर तक सहज सुलभ है : वह अपनी भाषा में या रूसी भाषा में गहन अनुसंधान कर सकता है। इस द्वि-भाषा-प्रणाली की सफलता का एक मुख्य आधार है वहाँ की सक्षम अनुवाद-व्यवस्था जिसके द्वारा प्रत्येक नयी पुस्तक का भाषान्तरण प्रायः साथ-के-साथ होता चलता है। मैं बराबर सोचता रहा कि अनेक समृद्ध भाषाओं से संपन्न अपने देश में भी इसी पद्धति का अवलंबन कर लेने से समस्या का समाधान कितना सरल हो सकता था। परंतु हम तो एक ऐसे लोकतंत्र में विश्वास करते हैं जहाँ कोई भी एक राज्य निषेधाधिकार का प्रयोग कर संपूर्ण देश की प्रगति को बाधित कर सकता है।

अन्य औद्योगिक केन्द्रों की भाँति मास्को में भी एक विकास-प्रदर्शनी का स्थायी आयोजन है जहाँ सोवियत-संघ की उपलब्धियों की झाँकी अनायास ही मिल जाती है। जिनके पास समय का अभाव हो, उन्हें यह प्रदर्शनी अवश्य देखनी चाहिए। प्रदर्शनी की ओर जाते हुए,

सबसे पहले हमारा ध्यान गया एक बड़ी ऊँची रॉकेट-जैसी इमारत की ओर जो अंतरिक्ष-अभियान की सिद्धियों की प्रतीक और उसके साहसी शहीदों की स्मारक है। विशाल प्रांगण के भीतर अनेक कक्ष और मंडप हैं जो सोवियत-राष्ट्र के बहुविध विकास का मानचित्र प्रस्तुत करते हैं। मुख्य द्वार में प्रवेश करते ही हम एक रंगमंच के पास पहुँचे जहाँ दर्शकों के विश्राम के लिए नृत्यगीत आदि की व्यवस्था है। विज्ञान, शिक्षा और कला की प्रदर्शनी देखने के बाद हमने अंतरिक्ष-यान के प्ररूप का समीप जाकर निरीक्षण किया। पृथ्वी पर एक विशाल यंत्र रखा हुआ है जिसके अंदर काफ़ी ऊँचाई पर रॉकेट है। पहले यह पूरे-का-पूरा यंत्र बड़े वेग से आकाश में उड़ता है और फिर जब वह एक निश्चित ऊँचाई पर पहुँच जाता है तो उसमें से रॉकेट छूटकर अंतरिक्ष में उड़ने लगता है और आधार-यंत्र बीच में ही नष्ट हो जाता है। इस अंतरिक्ष-यान के सामने खड़े होकर मैं मानव-मेधा के बढ़ते हुए अभियान का विराट् दृश्य कल्पना की आँखों से देखने लगा और कुरुक्षेत्र की निम्नोक्त पंक्तियाँ मेरी अन्तश्चेतना में गूंज गयीं :—

यह मनुज,
जिसका गगन में जा रहा है यान,
खोलकर अपना हृदय गिरि, सिंधु, भू, आकाश
हैं सुना जिसको चुके निज गुह्यतम इतिहास।
खुल गये परदे, रहा अब क्या यहाँ अज्ञेय;
किंतु नर को चाहिए नित विघ्न कुछ दुर्जेय;
सोचने को और करने को नया संघर्ष,
नव्य जय का क्षेत्र, पाने को नया उत्कर्ष !

सोवियत-संघ के राष्ट्रीय एवं राजनीतिक जीवन का स्नायु-केन्द्र है क्रैमलिन। संसद भवन, सचिवालय और पार्टी का सभा-भवन आदि यहीं हैं। यहीं वह प्रसिद्ध लाल चौक (रैड स्क्वायर) है जहाँ अक्तूबर की महान् क्रांति के अवसर पर सोवियत राष्ट्र का विशाल सैनिक-

प्रदर्शन होता है। क्रांति से पूर्व रूस के प्राचीन शासकों का राज्यागार यहीं था। उनके राजभवन का एक भाग आज 'ऐतिहासिक संग्रहालय' बन गया है जहाँ सम्राटों के अपूर्व ऐश्वर्य के अवशेष—अमूल्य वस्त्रालंकार, शस्त्रास्त्र, यान और शिविकाएँ, राजसी अश्व तथा वैभव-विलास के अनेक प्रसाधन—यथावत् सुरक्षित हैं। वर्तमान और अतीत का यह अंतर कितना रंगीन था? पचास वर्ष में परिवर्तन का चक्र इतने वेग से घूम सकता है—यह सोचकर विशेष आश्चर्य तो हमें नहीं हुआ क्योंकि कुछ-कुछ ऐसे ही दृश्य भारत के रजवाड़ों में भी देखने को मिलते हैं, फिर भी विधि की विडम्बना का एक अपूर्व चित्र हमारे सामने उपस्थित हो गया। क्रैमलिन की सड़कों पर बड़ी भीड़ थी—ऐसी भीड़ वहाँ नित्य ही रहती है। उस दिन हम लोगों के साथ एक भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती मेनन भी थीं। और रोज़ जहाँ मास्को के लोग, विशेषकर स्त्रियाँ और बच्चे मेरी वस्त्रभूषा—कुर्ता और धोती—के प्रति आकर्षित हुआ करते थे, वहाँ आज उनका ध्यान श्रीमती मेनन की बंगलौरी साड़ी पर ही बार-बार जा रहा था। मेरे साथी यह देखकर मुझसे मज़ाक करने लगे और बोले कि आज श्रीमती मेनन ने आपका रंग फीका कर दिया। इतने में ही नरगिस अपने परिवार के साथ पहुँच गयीं।—फिर क्या था? श्रीमती मेनन की तो बात ही क्या, लोग संग्रहालय की दर्शनीय वस्तुओं को भूल गये और एक अलग प्रदर्शनी नरगिस के चारों ओर लग गयी। एक मित्र ने श्रीमती मेनन की ओर देखकर कहा: 'यह लगा नहले पर दहला।'—'दहला नहीं, इक्का!'—मैंने जवाब दिया।

इतने में ही हम लोग लेनिन-समाधि के निकट पहुँच गये जहाँ का वातावरण एकदम गंभीर और श्रद्धा-भरित था। लेनिन का यह स्मारक क्रैमलिन का हृदय और मास्को का पुण्य तीर्थ है। वहाँ पूर्वाह्न में दर्शकों का ताँता लग जाता है, और यह पंक्ति प्रायः तीन-चार मील लंबी होती है। सोवियत-संघ की जनता, देश-विदेश के लोग—आबाल-

वृद्ध नर-नारी धूप, वर्षा और हिमपात की चिंता न कर, निश्चल भाव से पंक्तिवद्ध खड़े रहते हैं। उन्हें देखकर श्री वेंकटेश्वर के मंदिर का दृश्य मेरी कल्पना में झूल गया जहाँ मीलों तक फैला हुआ भक्त-समुदाय भगवान् के दर्शन के लिए इसी प्रकार पंक्तिवद्ध खड़ा रहता है। विवेक ने प्रश्न किया कि ये लोग तो भक्त नहीं हैं, परंतु तुरंत ही मन ने उत्तर दिया कि अविचल आस्तिक बुद्धि के बिना न इस प्रकार की श्रद्धा संभव है और न जीवन की प्रगति। आस्तिक भावना के बिना मनुष्य के लिए जीना ही दूभर है—विकास या प्रगति की तो बात ही क्या ? सोवियत-संघ या किसी भी राष्ट्र में विकास की यह अद्भुत शक्ति, निर्माण की ऐसी अपूर्व क्षमता क्या आस्था के बिना संभव है ? आस्था का आलंबन भिन्न हो सकता है, परंतु उसकी मूल वृत्ति समान ही रहती है। आस्था का आलंबन मानवता की चिन्मय शक्ति है या कोई परोक्ष चैतन्य सत्ता, इससे क्या अंतर पड़ता है ? इसी आस्था के कारण आज भौतिकवाद के प्रबलतम प्रस्तोता सोवियत-राष्ट्र ने अपने निर्माता के शरीर को यथावत् सुरक्षित करने का उपक्रम किया है : मानव की वह शक्ति, जो भौतिक अस्तित्व का अंत होने पर भी एक संपूर्ण राष्ट्र को जीवन की प्रेरणा दे सकती है, मृण्मय नहीं हो सकती—उसमें कुछ-न-कुछ तत्त्व ऐसा अवश्य है जो मिट्टी से ऊपर है। 'धर्म' शब्द का प्रयोग वहाँ नहीं है, कम-से-कम इस संदर्भ में तो वह सोवियत जीवन-दर्शन के सर्वथा प्रतिकूल पड़ेगा; परंतु मैं मन में सोचने लगा कि यह आस्था क्या अधार्मिक हो सकती है ? और, वास्तव में, उस समाधि के भीतर बिलकुल मंदिर या मस्जिद का-सा ही वातावरण है : वैसी ही पवित्र शांति, वही भौतिक संसर्गों से मुक्त होने की भावना। लेनिन का शरीर आज भी उसी शांत मुद्रा में विद्यमान है; उसके ऊपर बिजली का हल्का-सा प्रकाश रहता है जिससे उनकी आकृति का प्रत्येक अवयव स्पष्ट लक्षित हो सके। प्राणों की अदम्य ऊर्जा रचनात्मक बनने पर कैसी स्निग्ध हो

जाती है, समर्पित जीवन का अंत कितना शांतिमय होता है, मानव-चेतना की यह अंतिम अनुभूति लेनिन की मुद्रा में सहज रूप से अंकित है।

क्रैमलिन में रूस की मध्ययुगीन सामंतीय वास्तु-कला के उदाहरण और इतिहास के गर्भ में विलीन सांप्रदायिक धर्म-भावना के प्रतीक राजकीय गिरजाघर का भी अपना आकर्षण है। उसके गुम्बदों का पृथुल आकार और विभिन्न अंगों का विराट् आयाम रूस के प्रकृत पौरुष व मध्ययुग की अनगढ़ उदात्त कल्पना का प्रतिमान है। गिरजा-घर के चरणों में एक विशाल घंटा रखा हुआ है जो शायद विश्व का सबसे बड़ा घंटा है। एक मित्र ने कहा कि यह घंटी गिरजाघर पर ही रही होगी, किसी भूकंप या तूफ़ान में नीचे गिर पड़ी होगी। मुझे यह सुनकर बड़े ज़ोर की हँसी आ गयी जिससे मित्र को कुछ क्षोभ भी हुआ—उन्हें लगा जैसे मैं उनकी उस विचित्र सूझ पर हँस रहा हूँ। पर बात कुछ और ही थी; हँसी तो मुझे उस दैत्याकार लौह-पिंड के लिए 'घंटी' शब्द के प्रयोग पर आयी थी। इसमें संदेह नहीं कि उसका रूप घंटी के समान ही था, पर आकार उसका एक छोटे-मोटे गुंबद के बराबर था। वह वहाँ क्यों रखी थी—ऊपर से नीचे गिर गयी थी या नीचे से ऊपर ही नहीं जा सकी थी—इसके बारे में प्रामाणिक सूचना प्राप्त करने का तो अवसर नहीं था, परंतु वह थी एक अद्भुत वस्तु। आतिथेय के प्रस्ताव पर हम लोग उसके आगे खड़े हो गये और फ़ोटो-ग्राफ़र ने हमारे दो-एक चित्र लिये जो स्मृति-चिह्न के रूप में हमारे पास सुरक्षित हैं।

पाँच दिन का समय ही कितना होता है—और वास्तव में मास्को के अनेक दर्शनीय स्थान, जैसे लेनिन-ग्रंथागार, लेनिन-संग्रहालय, मार्क्स-स्मारक, मास्को-स्टेडियम आदि को हम सिर्फ़ बाहर से ही देख पाये। फिर भी, मैंने जो कुछ देखा वह काफ़ी गहराई से देखा, अतः मेरे मनः-पटल पर जो स्मृति-चित्र अंकित हुए हैं वे काफ़ी स्पष्ट हैं। मास्को का

जन-जीवन स्वच्छ और स्वस्थ है। ताशकंद की-सी निर्मुक्त भावना तो—कम-से-कम उतनी मात्रा में—यहाँ नहीं मिली क्योंकि यहाँ के नर-नारी ताशकंद के लोगों की तुलना में कुछ गंभीर एवं आत्म-संयत हैं, परंतु किसी प्रकार की विकृतियाँ तथा मनोग्रंथियाँ इनमें भी नहीं हैं। गंभीरता का एक कारण शायद यह भी है कि द्वितीय विश्वयुद्ध में मास्को की नागरिक जनता को अपनी स्वतंत्रता और विजय के लिए भारी मूल्य चुकाना पड़ा था—प्रत्येक परिवार उस युद्ध में एक-न-एक सदस्य की आहुति दे चुका है और ये घाव अभी ताज़ा हैं। अपने निकट वृत्त के जिस-जिस मित्र से मैंने यह प्रश्न किया, उसी ने एक दर्दभरी कहानी सुनायी। दीमशित्स की माता और बहनें नाज़ी बर्बरता की शिकार हुई थीं, भारत-मैत्री संघ की एक अत्यंत स्नेहमयी महिला-सदस्य अपने युवा पति को खो चुकी थीं : इन लोगों से पूछने के बाद फिर किसी से इस प्रसंग पर बात करने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। परिवार की संस्था में रूसवासियों का विश्वास अब भी बना हुआ है। माता-पिता, भाई-बहन आदि के रक्त-संबंधों की रक्षा वे पूरी कर्तव्य-भावना के साथ करते हैं। दाम्पत्य जीवन वहाँ का बहुत सुखी है; स्त्री और पुरुष दोनों ही प्रायः काम करते हैं परंतु आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होने पर भी वे वैवाहिक सदाचार में निष्ठा रखते हैं। ऐसी स्त्रियाँ वहाँ अनेक हैं जो पति की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह नहीं करतीं। काम-संबंध वहाँ प्रायः स्वस्थ हैं; जीविका के विषय में आत्म-निर्भर होते ही युवा और युवती विवाह कर गृहस्थ-जीवन में प्रविष्ट हो जाते हैं जिससे वे अकारण ही मानसिक ग्रंथियों और विकृतियों के शिकार नहीं बनते। काम का प्रकृत उपभोग वहाँ है, पर उसके प्रति बुभुक्षा या लिप्सा नहीं है। सड़कों पर, पार्कों में या होटल आदि में प्रणय की सार्वजनिक अभिव्यक्ति की प्रथा वहाँ प्रायः नहीं है—शायद उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। हाँ, वाग्दत्त युगल या नवदंपति कभी-कभी अधीर-से दिखायी पड़ जाते हैं, पर यह भी नियमित जीवन का अंग नहीं है। भौतिक जीवन का सुख-

संतोष यहाँ सुलभ है; इसीलिए अपराध प्रायः नहीं होते। एक दिन बाज़ार में एक अर्धनग्न व्यक्ति को पुलिस के दो सिपाही पकड़ कर ले जा रहे थे। मैंने अपने भारतीय मित्र से पूछा कि क्या यहाँ भी जेबकट वग़ैरह होते हैं। वे हैरत से उसे देखने लगे और बोले, "मैं इतने वर्षों से यहाँ हूँ, पर इस प्रकार का दृश्य पहली बार देख रहा हूँ। शायद यह कोई पागल आदमी है, वैसे यहाँ पागल भी प्रायः नहीं होते—कम-से-कम सड़कों पर उनके घूमने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन अब विदेशियों के—ख़ासकर कुछ विशेष राज्यों के लोगों के आ जाने से अपराध होने लगे हैं।" सब मिलाकर यहाँ का जीवन-दर्शन स्वस्थ और शुद्ध है; लोभ, कार्पण्य, तृष्णा आदि विकार सामान्य जन-जीवन में नहीं हैं। आध्यात्मिक समृद्धि और गहराई इसमें नहीं है या अपेक्षित मात्रा में नहीं है। बहिर्मुख जीवन का यह अनिवार्य अभाव है। मेरा यह विश्वास है कि पंचभूत की सत्ता के पार देखे बिना दर्शन अपूर्ण रहता है। परंतु मानव-कल्याण और विश्व-शांति की आकांक्षा से प्रेरित आत्म-सुधार की जो वृत्ति यहाँ धीरे-धीरे विकसित हो रही है, उससे यह आशा बँधती है कि आत्मा की समृद्धि भी अब बहुत दूर नहीं है।

२० अगस्त की रात को मेरे सहयोगी लेनिनग्राड चले गये और २१ की रात को साढ़े ग्यारह बजे रूस की अंतर्राष्ट्रीय विमान-सेवा एयरोफ़्लोट के विशालकाय वायुयान द्वारा मैं दिल्ली के लिए रवाना हो गया। दिल्ली में पूछताछ करने पर बताया गया था कि यह विमान २२ तारीख़ को मास्को से उड़ेगा—अतः मैं २३ तारीख़ को प्रातः ८ बजे दिल्ली लौटने का कार्यक्रम बनाकर चला था। पर मास्को में पता चला कि मास्को-दिल्ली की उड़ान का दिन सोमवार तारीख़ २१ अगस्त है। बात असल में यह थी कि नयी दिल्ली की सारणी में कार्यक्रम अंकित था भारतीय समय के अनुसार, जो मास्को के समय से २–३० घंटा आगे रहता है : इस प्रकार मास्को में जब २१ तारीख़ को रात के ११–३० बजे

विमान चलता है उस समय भारत में दो वज जाते हैं और २२ तारीख शुरू हो जाती है। इस अंतर के कारण मुझे थोड़ी कठिनाई हुई परंतु समय पर दिल्ली तार भेज देने से वह हल हो गयी। मास्को हवाई अड्डे पर मेरे रूस-प्रवास के चिर-सहचर श्री वैलेंटीन मुझे छोड़ने आये : यान आदि की असुविधा के कारण भारतीय मित्र होटल यूक्राइना में ही मुझे विदा दे चुके थे। वैलेंटीन बड़े ही कर्तव्यनिष्ठ युवक हैं—व्यवहार में अत्यंत स्वच्छ और शिष्ट। हिंदी-उर्दू का अच्छा ज्ञान है उन्हें : वैसे उच्चतर अध्ययन का विषय उनका अंगरेज़ी-साहित्य था। मेरे साथ शेरो-शायरी का रस लेते थे और अच्छे शेर को सुनकर अपनी डायरी में नोट कर लेते थे। —यह मास्को का अंतर्राष्ट्रीय विमान-केन्द्र था; अनेक पर्वत-यानों को अपने वक्ष पर धारण किये हुए, उसका विशाल प्रांगण बिजली के प्रकाश में जगमग कर रहा था। विश्रामगृह में दूसरे भारतीय प्रतिनिधिमंडल से भी मेरी भेंट हो गयी जो मास्को होकर उज़बेकिस्तान से स्वदेश लौट रहा था। भारी मन से, अत्यंत स्नेहपूर्वक मैंने वैलेंटीन से विदा ली और विमान के भीतर अपने स्थान पर शिवदानसिंह चौहान के साथ आकर बैठ गया। कुछ निद्रा और कुछ तंद्रा के बाद सूर्य का प्रकाश गवाक्षों में से आने लगा और आध घंटे के भीतर लड़खड़ाती अंगरेज़ी में, केबिन से यह सुखद घोषणा सुनाई पड़ी कि थोड़ी ही देर में हमारा हवाई-जहाज़ पालम अड्डे पर उतरने वाला है। और, पालम आ गया—वही चिर-परिचित, चिर-कांक्षित पालम : दिल्ली का सिंहद्वार जहाँ मेरा विश्व-विद्यालय है—मेरा अध्ययन-कक्ष है, परिजन-प्रियजन से भरा मेरा आवास है। कितना महान् था विदेश, पर कितना प्रिय है मेरा देश !

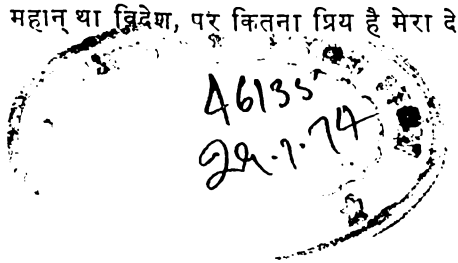

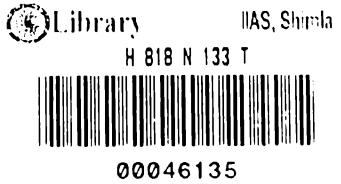
Library IIAS, Shimla
H 818 N 133 T
00046135